इतिहास के झरोखे से

हूँ तो मुगलानी

हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं

इतिहास के झरोखे से

(२)

'हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं'

(श्री राम-कृष्ण-शिव-गंगा-गोमाता-गीता-रामायण के श्रद्धालु
मुसलिम सन्तों-कवियों-लेखकों के दिखाये मार्ग पर एक विहंगम दृष्टि)

वचनेश त्रिपाठी

सुरुचि प्रकाशन
केशव कुञ्ज, नयी दिल्ली - ११००५५

अनुक्रमणिका

मनोगत

श्रीराम-श्रीकृष्ण-भक्ति की जो वैष्णवी धारा समग्र भारतवर्ष में प्रवाहित होकर सर्वसामान्य भारतवासी से लेकर राजा-महाराजाओं तक के मानस को आप्लावित कर चली, उसका सामाजिक, धार्मिक के साथ ही राष्ट्रीय महत्त्व भी कम नहीं। क्या यह कोई साधारण बात है कि पचासों मुसलिम कवि और सन्त-फकीर भी उसी पवित्र धारा में अवगाहन कर स्वयं को कृतकृत्य और भव-भय-मुक्त कर न केवल प्रेममार्गी अपितु मोक्षमार्गी होने का भी विश्वास करते थे। एक पठान, फिर वह भारतीय हो या विदेशी, अपना उपनाम 'रसखान' रखकर यह कामना करता है कि यदि मुझे अगला जन्म पक्षी का मिले तो हे भगवान्! मुझे नित्य वृन्दावन के कालिन्दी-कूल (यमुना-तट) पर खड़े कदम्ब वृक्ष की शाखा पर ही रैन-बसेरा करने का पुण्य प्रदान करना। कितना प्रबल था वह भक्ति-प्रवाह जो मार्ग के सभी अवरोधों-विरोधों को बहा ले गया!

क्या थे वे अवरोध-विरोध ? एक ओर यह चाटुकारिता थी कि तथाकथित बड़े-बड़े बुद्धिमतांवरिष्ठ लोग भी 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहकर बादशाहों की खुशामद कर रहे थे। हमलावर बनकर आये और दिल्ली के तख्त पर काबिज हो गये तो उनकी तुलना जगदीश्वर परमात्मा से! कैसा पतित विचार! पराधीनता ही नहीं, अधोगति की चरम सीमा हो गयी।

किन्तु यही पूरी सचाई नहीं थी। इसके दूसरी ओर वैष्णव सन्तों ने दो टूक निर्भय शब्दों में कहा—

''संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत-जात पनहिया टूटे, बिसरि जात हरि नाम।''

— हम ठहरे साधु-सन्त। भले ही बादशाह हमें फतेहपुर सीकरी के महलों में बुला रहा हो, फिर भी हमें उससे क्या काम ? आते-जाते पनही (खड़ाऊँ) टूटती हैं और ऊपर से घाटा यह कि हरि-नाम का विस्मरण हो जाय! हम नहीं आते, जाओ।

यह देन थी हरि-भक्तों की तत्कालीन समाज को, पराधीन राष्ट्र को। जब विदेशी शासकों की तूती बोलती थी, हिन्दुओं का बलात् धर्मान्तरण हो रहा था, हिन्दू बहू-बेटियों का सम्मान भारी संकट में था और कहीं-कहीं तो मन्सबदारी पाने के प्रलोभन में भगवानदास जैसे अधम हिन्दू राजा अपनी बेटी बादशाह के 'हरम' में पहुँचा देने तक पतित हो रहे थे, एक राणा प्रताप के अतिरिक्त कोई प्रमुख नाम राजाओं में ऐसा नहीं था जिसने या तो बादशाही तख्त के सामने अपने आन-मान को, आत्मा को बेच न दिया हो या जिसमें सिर उठाकर अन्धेरगर्दी को चुनौती देने का साहस रह गया हो, ऐसे दुष्काल में, जी-हजूरी के जमाने में, किसने धर्म की रक्षा की ? किसने हिन्दू समाज को धर्मान्तरण से बचाया ? निस्सन्देह वह सन्त-समाज ही था, और उन सन्तों ने अपने अदम्य आत्म-बल एवं

निष्कलंक चरित्र से न केवल इस महान् संस्कृति की रक्षा की, अपितु वे अनेक मुसलमानों को भी श्री राम-कृष्ण के आश्रय में ले आये।

यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि वे निर्भय, निष्काम, निर्लेप, निःस्वार्थ और राज्यसत्ता-धनसत्ता-निरपेक्ष होकर देशभर में पैदल घूमते हुए या अपने दीक्षित-प्रशिक्षित शिष्यों को यत्र-तत्र भेजकर सत्य-सनातन धर्म का सार जन-जन तक पहुँचा रहे थे, उसकी महत्ता बता रहे थे और इस प्रकार चतुर्दिक् धर्म की ध्वजा फहरा रहे थे। बंगाल, बिहार, तमिलनाडु, केरल, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान, अवध, गुजरात, सिन्ध, पंजाब, हिमालयीय प्रदेश— सर्वत्र भक्तिभावित, मुक्तिकामी मानव-समूह इस धर्मध्वजा की छाया-तले उमड़ आया। प्रान्त-प्रान्त में इस नवजागरण के, हिन्दू-पुनरुत्थान के, धर्म-निष्ठा के प्राण-प्रदीप नन्दादीप जल उठे। आत्म-विस्मृति की, धर्म-ग्लानि की घोर अमा-निशा में यह दिव्य दीपक-राग गुँजाने वाले सन्त ही थे। यह सब करते हुए धर्म-ध्वंसकों के कोप का सामना उन्होंने निर्भयतापूर्वक आत्मशक्ति से किया।

किन्तु निर्मल भक्ति-गंगा के मार्ग में अवरोध-विरोध केवल विदेशी आक्रामकों और उनके स्वदेशी चाटुकारों के ही नहीं थे; तान्त्रिकों के वामाचार का बोलबाला भी कम न था—ऐसे वामपन्थ का, जो मन्दिरों में न केवल पशु-बलि अपितु नर-बलि तक कराता था। तिब्बती वज्रयानी शाखा का तान्त्रिकों-कापालिकों की शाक्त-शैव धारा पर ऐसा कुप्रभाव पड़ा कि विभिन्न बहानों से वामाचारी साधक कामाचारी बन गये। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें वेद-विरोधी, ठग और मिथ्या साधु-वेष बनाकर लोगों के साथ छल करने वाले घोषित किया—

''तजि श्रुतिपंथ, वामपथ चलहीं। वंचक, विरचि वेष जगु छलहीं॥''

ऐसे पतनशील दूषणोन्मुख वातावरण को शुद्ध-स्वच्छ बनाने में मर्यादापुरुषोत्तम राम का एक नारी व्रत और भरत-लक्ष्मण जैसे उनके अनुगामी भाइयों तथा हनुमान् जैसे सेवक के जितेन्द्रिय चरित्र आत्यन्तिक महत्त्व के सिद्ध हुए। श्री राम का पावन चरित-चित्रण कर और राम-नाम स्मरण करने का महत्त्व बताकर वैष्णव सन्तों ने जो भक्ति-गंगा प्रवाहित की, उसने सारा परिदृश्य ही बदल दिया। इस ऊर्ध्वमुखी वातावरण में श्री कृष्ण की भी बाल-लीलाओं को उनके योगेश्वर स्वरूप के अनुरूप उदात्त दृष्टि से देखने वाली भक्ति-भावना हिलोरें लेने लगी। बंगाल में वामपन्थ के प्रभाव का उल्लेख करते हुए श्री दिनेशचन्द्र सेन ने 'चैतन्य ऐण्ड हिज एज' के पृष्ठ ९ में बताया है कि उस समय वहाँ ऐसा लोकसाहित्य रचा जाने लगा था जिसमें पतित लोगों ने भगवान् शिव को भी अपने जैसा ही अविश्वसनीय भोगी-विलासी चित्रित करना आरंभ कर दिया था। उन्हीं शिव के कामदेव को भस्म करने वाले योगी स्वरूप का चित्रण करते हुए तुलसीदास जी ने उनके अजन्मा, दोषों से परे, अकाम और अभोगी होने का स्मरण लोगों को दिलाया—

''हमरे जान सदा सिव योगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥''

तुलसीदास प्रभृति राम–भक्त सन्त वैष्णव थे जो शिव जी के प्रति भी इतनी ऊँची धारणा प्रचारित कर रहे थे। कहाँ था नामोनिशान भी कट्टरता का, विभेद का, रूढ़िवादिता का ? कवि जयदेव और चण्डीदास भक्तिमार्गी ही थे। जयदेव ने अपने संस्कृत काव्य 'गीत–गोविन्द' में ऐसा ही समन्वय प्रस्तुत करते हुए श्री कृष्ण और बुद्ध को एक ही माना—

''केशवधृत बुद्ध–शरीर, जय जगदीश हरे।''

— कृष्ण ने ही बुद्ध शरीर धारण किया। ऐसे समस्त प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि उसी बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ईसाई होकर भी 'मेघनाथ–वध' जैसा काव्य लिख गये जिसका हिन्दी अनुवाद राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने किया। माइकेल को कृत्तिवास की लिखी पूरी रामायण कण्ठस्थ थी।

निर्भय, निःस्वार्थ, सर्वहितैषी सन्तों के प्रभाव से मुसलमान भी अछूते नहीं रह सकते थे। परन्तु उनके लिए इधर बढ़ने का साहस करना उतना सरल नहीं था। दकियानूस मुल्ले–काजियों की दृष्टि में यह कुफ्र था जिसके लिए उनकी शरीयत में रोंगटे खड़े कर देने वाली सजा थी। उनके अमीर–सुलतान–बादशाह–नवाब अत्यन्त क्रूर थे। प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति ने 'कीर्ति–लता' में हमलावर मुसलमानों के अत्याचारों का वर्णन करते हुए लिखा है—

''दूर दुग्गम आगि जारथि, नारि बिभारि बालक मारथि।''

— वे दूर–दूर तक गाँवों को जला देते थे और स्त्रियों पर नीचतापूर्ण अत्याचार कर बालकों की हत्या कर देते थे।

गुरु नानक ने तो बाबर के अत्याचारों पर ईश्वर को ही उलाहना देते हुए कहा—

''एती मार पई कुरलाने तोको दरद न आई।''

— इतनी मार, इतने अत्याचार लोगों पर होते देखकर भी तुझे पीड़ा नहीं हुई ?

कवि भूषण ने 'शिवा बावनी' में औरंगजेब के अत्याचारों का वर्णन किया है—

''....मथुरा जराइ कै दुहाई फेरी रब की।
खोदि डारे देवी–देव–देवल अनेक सोई
देखि निज पानिन तें छूटी माल सब की॥

— उसने मथुरा को जलाकर रब की दुहाई फेरी, देवी–देव और देवालयों को खोद डाला, यह लोमहर्षक काण्ड देखकर हिन्दू धर्म–पालन का साहस करना सभी को दूभर हो गया।

बहमनी सुलतान फीरोज इतना हिन्दू–हत्यारा था कि जब वह 'कत्ले आम' करके एक ही दिन में बीस हजार हिन्दू स्त्री–पुरुष और बच्चों को मारने में सफल होता तो हर्ष प्रकट करने के लिए उसके उपलक्ष में जश्न–जलसे (समारोह) का आयोजन करता था।

काश्मीर में हिन्दू–हत्यारे कसाई शासक सिकन्दर बुतशिकन ने यह फरमान जारी (आदेश) कर रखा था कि ''जहाँ भी बरहमन (ब्राह्मण) दिखाई दे, उसे फौरन कत्ल कर दो। अगर्चे वह इस्लाम कबूल कर ले तो उसकी जान बख्शी जा सकती है।'' (बुतशिकन = मूर्तियाँ तोड़ने वाला) उसी क्रूर हत्यारे का प्रेत आज फिर काश्मीर पर मँडरा रहा है।

परन्तु दुनिया केवल जालिमों के लिए ही तो नहीं बनी, इसलिए सरफरोश भी यहाँ आते हैं— शायद मजहब के नाम पर किये जाने वाले पापों का मूल्य अपने सिरों से चुकाने। इसके लिए उन्हें आवश्यकता पड़ती है तो वैसी ही सच्ची प्रेरणा की जैसी मध्ययुगीन सन्तों की वाणी में थी। वेदान्त-वाक्य 'अहं ब्रह्माऽस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) के फारसी अनुवाद '*अनलहक*' को गुँजाते मंसूर इस्लामी शरअ के नाम पर सूली चढ़ा दिये गये। शम्स तबरेज़ की जीवित ही खाल खिंचवाकर उन्हें मारा गया। ''*मुरीद लछमनोराम शुदी*'' (मैं राम-लक्ष्मण का अनुयायी हूँ) कहने वाले फकीर सर्मद को औरंगजेब ने दिल्ली में कत्ल करा दिया।

फिर भी दिल (हृदय) से निकली सच्ची बात कहने से रोकने के लिए कठमुल्ले किस-किस की जीभ काट सकते थे ? जब बलख-बुखारे का बादशाह बुल्लेशाह तक इस देवभूमि के पवित्र आकर्षण से खिंचा चला आये फकीर बनने, जब व्रजमण्डल से मोहन की मुरली विवश कर दे तन-मन-प्राणों को और ''*चले बादशा वंश की ठसक छाँड़ि रसखान*'' जैसे उदाहरण सामने आने लगे तो उस पवित्र भाव की संक्रामकता को कौन रोक सकता था ? पचासों उदाहरण ऐसे हैं जब जन्म से मुसलमान होते हुए भी राम-कृष्ण की भक्ति जीवन का ध्येय बन गयी। शासकों में भी कुछ उदाहरण उदारता के आये। कश्मीर में हत्यारे मूर्तिभंजक सिकंदर के ही उत्तराधिकारी जैनुल आबदीन ने घोषणा कर दी की जो हिन्दू कश्मीर छोड़ गये हैं, वे वापस लौट आयें, उनकी पूरी सुरक्षा की जायेगी और जो मन्दिर बनाना चाहें या जीर्णोद्धार करना चाहें वे कर सकते हैं। यद्यपि शासकों में ऐसे उदाहरण बहुत कम और अपवादस्वरूप थे, सन्तों और कवियों ने इस टिमटिमाते दिये को बुझने नहीं दिया और वह परम्परा आज भी जीवित है। जैसे अभी-अभी नयी पीढ़ी के शायर अनवर अहमद 'ताहिर महोनवी' ने लिखा है—

''मैं मुसलमान हूँ, पर मेरा अकीदा ये है
कि राम-नाम भी आँखों से लगाया जाये।''

अब कठमुल्ले इन पर भी चाहे तस्लीमा नसरीन की तरह फतवा जारी करें, पर इनके 'अकीदे' (विश्वास) को कौन तोड़ सकता है ?

भारत में मुसलिम इतिहास के बर्बरतापूर्ण अध्यायों को ढकने-छिपाने के प्रयासों को अनुचित मानते हुए सचाई से यथातथ्य परिचय करते समय हम उन कतिपय मुसलिम हरिभक्तों को स्मरण करना नहीं भूल सकते जिन्होंने उस काल में भी अपने हृदय के विश्वास को छिपाया नहीं जब बर्बर विदेशी शासकों के आतंक तले किसी मुसलमान के लिए तो क्या, जन्म से हिन्दू के लिए भी हिन्दू दर्शन और जीवन-पद्धति के साथ जीना दुष्कर था। मनुष्यमात्र और उससे भी आगे समस्त जीव-जगत् एवं सकल चराचर सृष्टि के कल्याण की सनातन भारतीय जीवन-दृष्टि से प्रेरित-परिचालित मुसलिम हरिभक्तों की आलोकमयी जीवन-रश्मियों की यह अञ्जलि इसी सर्वहितैषी ध्येय को समर्पित है।

मानुष हों तो वहै रसखान.....

वर्षों बीत गये, लगभग ४५ वर्ष पूर्व पावन व्रज-भूमि की यात्रा करते हुए उत्सुकतावश उस स्थान पर भी गया था जहाँ के बारे में सुन रखा था कि महान् कृष्णभक्त कवि 'रसखान' का कुछ पता-ठिकाना वहाँ से प्राप्त होगा। गोकुल-महावन के पास रमण रेती में एक आश्रम देखा, नाम था— 'सन्त आश्रम'। समीप ही कालिन्दी का कल-कल नादयुक्त प्रवाह दृश्यमान था। उस स्थान की पौराणिक महत्ता है। वहीं एक ओर एक शिलालेख लगा था जिस पर लिखा था— 'रसखान का जन्म दिल्ली में संवत् १५९० (सन् १५३३ ई.) के लगभग एक शाही पठान वंश में हुआ। मुगल शासक हुमायूँ के अन्तिम दिनों में दिल्ली की कलह से ऊबकर 'रसखान' संवत् १६१२ (सन् १५५५ ई.) में व्रज चले आये। भक्त वेश में यहाँ घूमते रहे।'

टूट गया घर से जोड़ने वाला पुल

कहते हैं कि एक बार दिल्ली नगर में किसी स्थान पर श्रीमद्भागवत की कथा हो रही थी। लोगों को तल्लीन होकर कथा सुनते देख रसखान के भी पैर ठिठक गये। वहाँ एक ऊँचे आसन पर श्रीकृष्ण का मनोहारी चित्र प्रतिष्ठित था। पूछने पर पता चला कि जिसकी कथा सुनायी जा रही है, उसी का यह चित्र भी है। रूप भी अद्भुत और लीला भी। रसखान दोनों के दीवाने हो गये। उन्होंने उन्हीं भागवत बाँचने वाले पंडितजी से श्रीकृष्ण का पता-ठिकाना पूछा। पण्डित जी ने उन्हें व्रज (गोकुल-वृन्दावन) का पता बताया और कहा कि ये वहीं मिलेंगे। फिर क्या था, रसखान दिल्ली छोड़ व्रजधाम को चल पड़े। उन्हीं के शब्दों में—

''जा दिन ते निरख्यो नन्दनन्दन, कानि तजी घर-बन्धन छूट्यो।''

(जिस दिन से नन्दनन्दन को देखा, कुल-वंश की मर्यादा त्याग दी, घर-परिवार का बन्धन छूट गया।)

'२५२ वैष्णवों की वार्ता' में रसखान

वल्लभ सम्प्रदाय की '२५२ वैष्णवों की वार्ता' में रसखान का भी उल्लेख है। उसमें २४५वीं वार्ता रसखान की है। उसके अनुसार रसखान पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक स्वामी वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के कृपापात्र सेवक हुए। संवत् १६२७ (सन् १५७०) के पश्चात् रसखान ने गोकुल में गोसाईं विट्ठलनाथ जी से वैष्णव धर्म की दीक्षा ग्रहण की। श्रीनाथ जी (श्रीकृष्ण) की जिन-जिन लीलाओं के दर्शन रसखान को गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथ जी के स्वरूप में हुए, उनका वर्णन उन्होंने स्वरचित छन्दों में किया

है। संवत् १६७१ में उन्होंने 'प्रेम-वाटिका' की रचना की, जिसमें ५३ दोहे हैं। उन्होंने स्फुट सवैये, कवित्त, पद आदि भी रचे। जितना शोध किया जा सका है, उससे रसखान जी के अब तक ६६ दोहे, २२५ सवैये, २० कवित्त, ४ सोरठे और ५ भक्ति-पद प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार कुल ३२० छन्द-रचनाएं उस महान् भक्त कवि की मिलती हैं। गोकुल में ही उन्होंने 'रामचरितमानस' का सम्पूर्ण पाठ सुना। श्री कृष्ण की भक्ति में लीन वे संवत् १६७५ (सन् १६१८ ई.) में लगभग ८५ वर्ष की आयु के आस-पास गोकुल-महावन के ही क्षेत्र के मध्य कालिन्दी के कूल (यमुना-तट) पर पंचभौतिक देह और यह लोक छोड़कर गोलोक प्रस्थान कर गये। जो रसखान व्रज के 'करील के कुञ्जों' (काँटों भरी झाड़ी) पर करोड़ों 'कलधौत के धाम' (स्वर्ण से बने भवन) निछावर करते थे, वे भला व्रजराज के चरणों का स्पर्श पायी हुई व्रज-रज को छोड़कर अन्त समय में कहाँ जाते ? उसी पावन धूलि में उनका शरीरान्त हुआ।

कितने बड़े भाग्य की बात कि महावन में ही रसखान की समाधि बनी! किन्तु जब मैंने देखा, समाधि जीर्णावस्था में थी। लाल पत्थरों का वर्गाकार चबूतरा था वहाँ— पर्याप्त विशाल। बारह कलात्मक स्तम्भों पर बड़ा सा छत्र बना था। उस पर कोई लेखादि या अन्य चिह्न नहीं था। तीन समाधियाँ और उसके निकट बनी थीं। उनमें से भी दो समाधियाँ कलात्मक ढंग से बनी थीं, जिन पर उर्दू में कुछ लिखा था।

जन्म से ईरानी ?

अन्य सूत्रों से रसखान के बारे में जो जानकारी प्राप्त है वह उन्हें जन्म से ईरानवासी बताती है, दिल्ली का नहीं। गोकुल ग्राम के निकट ही महावन में रसखान की समाधि के पास एक पुराना मुसलमान घराना रहता है। उसी घराने के नवाब बन्ने मियाँ का कहना है कि उनके चाचा चौधरी शरीफुल हसन, जो कि पुराने जमीदार थे, उन्हें रसखान की जीवन-कथा सुनाया करते थे। तदनुसार रसखान यहाँ ईरान देश से आये थे।

हुआ यह कि एक बार कुछ हिन्दुस्थानी वैद्य कुछ समय के लिए ईरान गये थे। वे ठहरे थे 'रसखान' के पिता रमजान अली के घर में। बातचीत में जब भारत की विशेषताओं का उल्लेख उन वैद्यों ने किया तो यह भी बताया कि भारत एक ऐसा देश है संसार में, जहाँ मनुष्य ईश्वर के दर्शन (दीदारे खुदा) कर सकता है। साक्षात्कार (वस्ल) की धरती वही है जो हिन्दुओं का देश है। जब वे वैद्य रमजान अली खाँ को यह सब बता रहे थे, उनके पास ही बैठे 'रसखान' बड़े चाव से यह सुन रहे थे। वस्ल (ईश्वर-साक्षात्कार) की बात उनके हृदय में गहरे उतर गयी। प्रभु-मिलन के लिए वे व्याकुल हो उठे। मन में संकल्प उठा— 'या तो वस्ल ही होगा या मर के मिटेंगे'। और १५-१६ वर्ष की उस किशोर वय में ही अपना घर, परिवार, देश, सब छोड़कर उन वैद्यों के साथ ही चले आये हिन्दुस्थान। प्रारम्भ में कुछ समय लाहौर रहे, फिर दिल्ली आ गये। फारसी और थोड़ी-बहुत उर्दू जानते थे।

कुछ दिन सूफी फकीरों के साथ बीते, फिर सन्तों-महात्माओं का सत्संग किया। हिन्दी और संस्कृत भाषा सीखी। वैष्णव साधुओं की कृपा से श्रीकृष्ण के स्वरूप की झाँकी जो मिली तो वह रसखान के नेत्रों में बस गयी। फिर तो उसी दिव्य स्वरूप के आकर्षण में बँधकर वृन्दावनवासी हो गये। ईरान लौटने का विचार सदा के लिए त्याग दिया। हृदय में राधा-कृष्ण की मधुर छवि बसा ली। कहीं से एक सितार ले आये और उसी के साथ स्वरचित छन्दों को गाते रहते। वैसे तो जहाँ मन होता विचरते रहते, किन्तु रैन-बसेरा वृन्दावन में ही होता था। स्वप्न में भी अपने इष्टदेव को ही देखते थे। एक बार सोते हुए, स्वप्न में कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि भोर होते ही वृन्दावन से चलकर गोकुल आ गये और फिर दीर्घकाल तक वहीं श्रीकृष्ण-प्रेम में मगन होकर छन्द रचते रहे, श्रीकृष्ण और गोकुल की महिमा गाते रहे।

लेने आये भाई-बहिन भी यहीं के हो रहे

तभी एक दिन उनकी नित्य की दिनचर्या में बड़ी बाधा पड़ी। उनके जन्म-स्थान, दूर देश ईरान से चलकर उनके भाई-बहिन व्रज तक पहुँच गये और उन्होंने उन्हें खोज ही लिया। उनके उस ईरानी भाई की अब शक्ल-सूरत, वेश-भूषा और रहन-सहन, सभी कुछ इतना बदल चुका था कि उसे पहचानाना तक कठिन हो गया था। दाढ़ी-बाल बहुत बढ़े हुए, वस्त्र विशुद्ध भारतीय, आँखों में उसी एक की दर्शन-पिपासा। उसी सलोने-साँवरे गोपाल वंशीवाले की छवि, एक झलक निहारने की बेचैनी-बेताबी। रसखान के ईरान से आये सगे भाई का नाम था जाफर अली खाँ और बहिन का नाम ताज बीबी। दोनों इतने दीर्घकाल बाद अपने भाईजान को पाकर गद्‌गद , भाव-विभोर हो उठे। ईरान के रमजान अली खाँ का बड़ा बेटा अपना पूर्व नाम-धाम और परिचय भुलाकर व्रज में अब केवल 'रसखान' है और यही नाम उसे प्रिय है।

सो, रसखान की बहिन ताज बीबी और भाई जाफ़र अली खाँ ने बड़ी ललक से निवेदन किया— "भाईजान! वालदा (माँ) बहुत बीमार हैं। आपकी जुदाई में रोते-रोते उनकी आँखों की रोशनी खत्म हो गयी। जईफी का आलम है और शायद यह उनका आखिरी वक्त। बस, सिर्फ आपको अपने नज़दीक पाने की तमन्ना पूरी करने के लिए जिन्दा हैं। कब उनकी आखिरी साँस टूट जाय, कुछ ठीक नहीं। इसलिए फौरन आप वतन चलने की तैयारी करिये, वालदा ने हमें इसी वास्ते आपकी तलाश में यहाँ भेजा है।"

किन्तु दोनों ने देखा, रसखान की मुखमुद्रा स्थिर है— कोई प्रभाव उस पर घर वापसी की बात का पड़ा नहीं। वे कुछ निराश हो गये। फिर अनुरोध किया— "भाई साहब! ईरान लौट चलिये। वालदा आपसे मिलने के लिए तड़प रही हैं। आप तो उन्हें बहुत प्यार करते थे, बड़ी इज्जत देते थे, क्या अब आप को उनकी याद जरा भी बैचेन नहीं करती ?"

रसखान के दृढ़-बद्ध ओष्ठ पुटों से इने-गिने शब्द फूटे। कहा— "भाई जाफ़र और ताज बहिन! यह तुम्हारा भाई वह नहीं जो ईरान में तुम्हारे साथ खाता-खेलता था। बल्कि

यह तो इस ब्रज का शैदा, कृष्ण का आशिक रसखान है— एक नया मनुष्य है जो दुनिया की हर वस्तु से नाता तोड़ चुका। अब उसका वास्तविक सम्बन्ध केवल एक से है, वही उसके दीनोईमान, दोनों जहान का मालिक है। वही हमारा अल्लाह है, पाक परवरदिगार है और उसी को में गोविन्द-गोपाल-गिरधारी-कंसनिकन्दन श्रीकृष्ण कहता हूँ। उनका यह गोकुल, नंदगाँव, वरसाना, वृन्दावन, गोवर्द्धन छोड़कर मैं कहीं नहीं जा सकता, कहीं नहीं रह सकता। यहाँ यमुना की श्यामल धारा में, कदम्ब की छाँव में और संध्या को वन से घर वापस लौटती गौओं के बीच मैं उनकी झलक पाता हूँ। सुनाई पड़ती है उनकी वंशी की भुवन-मोहिनी स्वर-लहरी। अब यही स्वर मेरा जीवन है, प्राणों की पुकार इसी में बसी है। ताज बहिन! भाई जाफ़र! तुम मुझे ईरान वापसी के लिए विवश न करो।''

''मगर भाई जान! ऐसे नाजुक वक्त में वालदा का दीदार (दर्शन) क्या आप को वाजिब नहीं ?''

''बेशक वाजिब है और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यहीं बैठे हुए उस महिमामयी माता के दर्शन प्राप्त कर रहा हूँ। कारण ? समीपता और दूरी तो कल्पना-जन्य हैं। जो सच्चे हैं और मिलन की जिनमें सच्ची लगन है, किसी स्थान की दूरी या फासला उनके बीच में बाधक नहीं बन सकता।''

रसखान जिस रस में आकण्ठ निमग्न थे उससे वे एक क्षण भी पृथक् नहीं हो पा रहे थे। तब तो उन ईरानी भाई-बहिन को बड़ा आश्चर्य हुआ और दुःख भी। उसी मन:स्थिति में वे दोनों कह उठे— ''भाई जान! कौन है वह बंसरीवाला ? कैसी है उसकी सूरत ? एक बार उसका हमको दीदार न कराइयेगा ?''

''लो, चलो, तुम्हें भी उसके निकट ले चलते हैं। वह पतितपावन तुम्हें भी अपनी कशिश (आकर्षण) से महरूम (वंचित) न रखेगा।'' और रसखान ने उन्हें गोकुल के समीपवर्ती अपने ठिकाने पर ले जाकर राधा और श्रीकृष्ण की उस मंजुल मूर्ति के दर्शन कराये जिसके सामने बैठकर वे भक्ति-रस के नित्य नये छन्दों की रचना करते थे। ईरान से आये वे दोनों भाई-बहिन राधा-कृष्ण की वह छवि देखकर ठगे से रह गये। इन्हीं कुछ क्षणों में न जाने उनकी आँखों ने क्या देखा कि अनन्तर जब दोनों की वाणी फूटी तो वह श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में सराबोर हो चुकी थी। जाफ़र अली खाँ भी फिर वहीं व्रज में बस गये, जीवनभर के लिए।

'ताज' ने भी अपने भाई रसखान के चरण-चिह्नों पर चलना आरंभ किया। उसने भी 'हिंदुआनी' सज-धज अपना ली। रसखान की ही भाँति उसने भी हिन्दुआनी भाषा-बोली अपना ली और उसी में 'नन्दकुमार' पर छन्द पर छन्द लिखने लग गयी।

जो भी हो, रसखान ईरान के हों, दिल्ली के हों, कहीं के हों, उनसे उजागर तो भारत-भक्ति ही हुई। उनकी जैसी कृष्ण-भक्ति कितनों के भाग्य में है? तभी तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ने कहा— 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।' अर्थात् ऐसे भगवद्भक्त मुसलमानों पर तो करोड़ों हिन्दू भी न्यौंछावर कर दें।

सांसारिकता से टूटा रसखान का सम्बन्ध श्री कृष्ण से ऐसा जुड़ा कि उनके लिए सार्थकता केवल उन्हीं वस्तुओं की रह गयी जो उन्हें श्रीकृष्ण से जोड़ें; शेष सब निरर्थक। वाणी हो या कान, हाथ हों या पैर, प्राण हो या मन— सब उन्हीं प्रभु को अर्पित हैं तो ठीक, नहीं तो व्यर्थ—

बैन वही उन को गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सौं सानी।
हाथ वही उन गात सरैं, अरु पाँय वही जु वही अनुजानी।।
जान वही उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यौं रसखान वहै रसखान, जु है रसखानि सो है रसखानी॥

केवल श्रीकृष्ण की छवि ही नहीं अपितु जहाँ-जहाँ उन्होंने लीला की, व्रज के वे वन, बाग, तड़ाग, यमुना-तट, करील के कुंज, गोवर्द्धन पर्वत, गोकुल गाँव, वरसाना, कदम्ब के वृक्ष, मधुवन, सभी के दर्शनों के लिए रसखान की आँखें व्याकुल रहतीं। वृन्दावन की उन करील की झाड़ियों के सामने तो उनके लिए स्वर्ण के करोड़ों भवनों का भी कोई मूल्य नहीं था—

रसखान कबौं इन आँखिन सौं व्रज के वन-बाग-तड़ाग निहारों।
कोटिक हूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों॥

ऐसी जिसे लगन लग गयी तो यमराज का भी उसको क्या भय ? माखन खाने वाला कन्हैया जब रखवाला है तो वह सूर्यपुत्र (यम) बेचारा कर क्या लेगा ?

काहे को सोच करै रसखान, कहा करिहै रविनन्द बिचारो।
कौन की संक परी है जु माखन चाखनहारो है राखनहारो॥

ऐसी भी क्या महिमा है उस कृष्ण-कन्हैया की ? तो कहते हैं—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥

समस्त देवगण निरन्तर जिसका स्तुतिगान करते हैं और वेद जिसकी अनादि-अनन्त महिमा का वर्णन करते हैं। ऐसे महिमानिधान के साक्षात्कार का मार्ग छोड़कर कोई अन्य किसी मार्ग पर क्यों भटके ? फिर भी ऐसे गहरे विश्वास वाला कोई 'रसखान' शताब्दियों में जन्म लेता है जो व्रज का मानुष ग्वाला तो क्या, पशु, पक्षी या पत्थर तक बनने का अभिलाषी है और अपने प्रभु की रूप-माधुरी एवं बाल-लीला के रस में आकण्ठ डूब कर कहता है—

या छवि को रसखान विलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिये, हरि हाथ सों लै गयो माखन-रोटी॥

एक और मीराँ : दीवानी मुग़लानी 'ताज'

व्रज मण्डल की 'साँय-साँय' करती सुनसान रात। मंदिर के बाहर चबूतरे पर केश-राशि छितराये एक बावली-सी अपने आप से बतिया रही है या किसी अन्य से, यह जान पाना कठिन है। कारण, वहाँ बाहर चबूतरे पर किसी तीसरे का अस्तित्व प्रकट नहीं है, परन्तु वह काव्य की भाषा में किसी से निरन्तर आत्म-निवेदन, आत्म-रोदन या कि आत्म-व्यथा निवेदन करने में दत्तचित्त है। कह रही है—

सुनो दिलजानी ! मेरे दिल की कहानी,
तुव दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव - पूजा ठानी, मैं नमाज हू भुलानी,
तजे कलमा-कुरान, सारे गुननि गहूंगी मैं॥
साँवला - सलोना सरताज, सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह - दाघ में निदाघ ह्वै दहूंगी मैं।
नंद के कुमार ! कुर्बान तेरी सूरत पै,
हूँ तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं॥

कोई उसका प्रलाप-अपलाप, आत्म-रोदन सुनकर उसके पास आया, पूछा— ''अरी तू कौन है? क्या दुःख-कष्ट है तुझे ? क्यों यहाँ धरना देकर भूखी-प्यासी पड़ी है ? किसके फेर में, किसकी तलाश में तूने अपनी यह हालत बना रखी है ? बता तो आखिर !''

वह बोली— ''वाह ! यह भी कोई पूछने की बात है ? क्या उसे तुम नहीं जानते ? दुनिया में कौन है जो उसे नहीं जानता ? सुनो, मेरा साहब (स्वामी) सिरताज वही है, नन्द जी का लाड़ला। मैं उसी को चाहती हूँ। उसी के लिए तड़प-बिलख रही हूँ और उसी की एक झलक देखने के लिए यहाँ आयी हूँ। पर यहाँ के ये पुजारी मुझे उसके मंदिर में ही घुसने से मना कर रहे हैं— उसका दर्शन नहीं करने देते। मेरी व्यथा यही है।'' उसके अपने बोल हैं—

''साहब, सिरताज हुआ, नन्द जू का आप पूत,
मारा जिन असुर, करी काली - सिर छाप है।
कुन्दनपुर जाय के, सहाय करी भीषम की,
रुक्मिनी की टेक राखी, लगी नहीं खाप है॥
पाण्डव की पच्छ करी, द्रौपदी बढ़ायो चीर,
दीन - से सुदामा की, मेटी जिन ताप है।
निहचै करि सोधि लेहु, ज्ञानी गुनवान वेगि,
जग में अनूप मित्र, कृष्ण का मिलाप है॥''

और यह वाणी उसे अति सहज रूप में, साधना के, विरह के चरम क्षणों में अलक्ष से प्राप्त हुई थी—उसके लिए उसने कभी कोई प्रयास नहीं किया। योगियों की जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है तो वे चाहने पर अप्रयास ही काव्य में छन्दोबद्ध, विविध राग-रागिनियों में अपनी बात कहने की शक्ति पा जाते हैं। प्रेम-दीवानी मुगलानी 'ताज' के जीवन में भी यही घटित हुआ। उसने न कहीं कभी छन्दशास्त्र, पिंगल आदि पढ़ा, न संगीत की ही कहीं शिक्षा ली, परन्तु उसकी वाणी से छन्दोबद्ध उद्‌गार, भगवत्-प्रेमालाप सहज ही प्रस्फुटित होने लगा था। इस स्थिति में अनेक लोग उसे बावली, पगली, दीवानी आदि उपाधियाँ दे बैठे थे। मुसलमान उस पर कुपित थे कि इसे हुआ क्या! परन्तु उसने कृष्ण-प्रेम में पगकर फिर किसी की आलोचना-निन्दा की कभी चिन्ता नहीं की। मुसलिम जीवन-पद्धति तो त्याग ही दी सदा के लिए।

रसखान की बहिन ?

अहर्निश उसे लगन लगी थी, 'कृष्ण-मिलाप' (प्रभु-मिलन) की। पता नहीं कहाँ से उसे ये संस्कार मिले! वह बिना श्रीकृष्ण की झाँकी देखे पानी तक नहीं पीती थी। प्रात: उसका सर्वप्रथम नियम था श्रीकृष्ण-प्रतिमा के दर्शन करना। शायद वह पंजाब के किसी मुसलिम परिवार की थी। जन्मस्थान उसका किसी ने 'करौली' बताया है तो किसी ने भारत के बाहर के इस्लामी देश में उसके परिवार का होना सिद्ध किया है और 'ताज' को रसखान पठान की बहिन बताया है और लिखा है कि वह 'रसखान' के साथ ही भारत आयी थी। जन्मी थी संवत् १६०० में। जो हो, उसने अपना जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्ण के लिए निछावर कर दिया। साध्वी बनकर वह मीराँ की भाँति सर्वत्र श्रीकृष्ण-प्रेम के गीत, स्वरचित छन्द गाती फिरती। दीवानी पगली का ही ऐसे में उसे खिताब मिलना था। मुस्लिम राम-भक्त कारेबेग की भाँति 'ताज' अपना सर्वस्व कृष्ण को ही समर्पित किये थी। 'ताज' भी कहती रहती थी कृष्ण से कि,

छैल जो छबीला, सब रंग में रंगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला कहूँ देवतों से न्यारा है।
नन्दजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावनवारा कृष्ण साहेब हमारा है।।

"नन्द-नंदन, कंस - निकंदन, वृन्दावन-विहारी कृष्ण ही हमारा (ताज का) साहेब (स्वामी) है।" कहती थी 'ताज'—

मेरे तो अधार एक, नन्द के कुमार हैं।

और जो दिव्य झाँकी 'ताज' की आँखों में बसी थी कृष्ण की, वह उसके लिए अवर्णनीय है, कहती है—

राधा की चटक देख, अँखियाँ अटक रहीं।

मंझन मियाँ अपनी कृति 'मधु-मालती' में इसी राधा-कृष्ण के स्वरूप में, युगल विग्रह में 'शिव और शक्ति' को देखते हैं।

यही जगद्व्यापी स्वरूप 'ताज' के मन-प्राणों में बसा था। उसके दिल की दशा कौन जाने ? कौन कहे?

रहीम खानखाना का कहना है—

यह स्वरूप निरखै सोइ जानै, या 'रहीम के हाल की।

रहीम थे तो मुसलमान ही, किंतु वे भी 'ताज' और 'रसखान' की भाँति ही राम और कृष्ण के प्रेम-रोग से ग्रस्त थे। इसीसे कहते हैं— ''जिसने एक बार यह सुंदर स्वरूप निरखा, वही यह पीड़ा जान सकता है।''

थाल कृष्ण के हाथ का

सो, 'ताज' प्रतिदिन की भाँति जब एक प्रभात में कृष्ण के दर्शनार्थ मन्दिर में जाने लगी तो उसे टोका-रोका गया, क्यों कि उन लोगों को पता चल गया कि यह लड़की जो दीवानी योगिन-सी दिखती है, मुसलमान है। कहा— ''तुम मंदिर में कैसे जा सकती हो भला!'' और 'ताज' रुक गयी। बड़ी वेदना उभर आयी उसके हृदय में। बहुत दुःखी। वहीं मंदिर-परिसर में धूनी रमा कर अड़ गयी। कहा— ''मैं प्राण दे दूंगी लेकिन बिना अपने साहेब साँवले-सलोने की एक झलक पाये जाऊंगी नहीं।'' पड़ी रही 'ताज' वहीं भूखी-प्यासी। दिन बीता, रात आयी। पट बन्द हो गये। पुजारी चले गये, भगवान को 'शयन' कराकर। अब कहीं कोई नहीं। सब ओर नीरव सन्नाटा!

ताज निढाल-निराश-निर्जल-निराहार वहीं एकाकी पड़ी है उस चट्टानी धरती पर।

रात गहराती गयी, अन्धकार गाढ़ा होता गया। पूर्ण निस्तब्ध निशीथकाल आया। और फिर जाने कैसे वहाँ दिव्यालोक कौंध उठा। एक कोमल-मधुर स्वर, प्रेमपूर्ण वाणी गूँजी। कोई कह उठा सहसा उस नीरव रजनी में—

''ताज! अरे तूने तो आज अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। ले, यह थाल तेरे ही लिए है। भोजन पा ले।''

ताज उठ बैठी। सिहर उठी। रोम-रोम पुलकित हो उठा। प्रस्वेद और फिर अश्रु-धार से नहा उठी बावली ताज। उसने हाथ बढ़ाकर थाल थाम लिया। लज्जा-संकोचवश, थाल लाने वाले की ओर दृष्टि न उठी उसकी। और फिर उसने वही दिव्य-अलौकिक वाणी सुनी—

''ताज! तू दुःख मत करना। पुजारी आयें तो मेरी ओर से उनसे यह संदेश कह देना कि वे तुझे कभी रोकें नहीं, दर्शन करने से। रोकेंगे तो मैं रुष्ट हो जाऊंगा उनसे।'' और

फिर वह आलोकपुंज अन्तर्धान हो गया अगले क्षण। उसी अनन्त अंधकार में विलीन हो गयी वह अमृत-वाणी, जिसे 'ताज' ने आज जीवन में प्रथम बार सुना और विभोर हो उठी—कृत-कृत्य। निहाल हो गयी वह प्रेम-दीवानी। अब उसे कुछ नहीं चाहिए। जीवन रहे, चाहे जाये। जन्म लेने का सुफल पा गयी वह आज। 'ताज' पूरी थाल का भोजन खा गयी, पर उसे पता न चला कि वह खा-पी रही है। वह तो बस उसी वाणी का स्मरण, उसकी प्रतिध्वनि अब भी सुन-गुन रही थी। बाह्य संसार बिसर ही गया था उससे इस समय। और फिर कब इसी मन:स्थिति में उसकी आँख लग गयी, उसे पता न चला।

भोर वेला में पुजारियों ने आकर उसे जगाया। उनकी करुणा भी जागी, क्योंकि करुणाकर के हाथों 'ताज' को वह दुर्लभ प्रसाद जो प्राप्त हो गया था। पुजारी सोचने लगे, सहानुभूति से प्रेरित हो कि 'अरे! यह लड़की भूखी-प्यासी यहीं पड़ी रही दिन भर, रात भर! किंतु फिर यह सुंदर थाल कहाँ से आया यहाँ ? कौन आया ?' पूछा उससे। 'ताज' ने आँसू पोंछते हुए बताया— "वही हमारा दिलदार, सिरताज, दिलजानी, हमारा कृष्ण साहेब दे गया खुद आकर यह महाप्रसाद और कह गया आपके लिए कि ताज को आगे कभी रोकना मती, हम नाराज हो जायेंगे।"

हिरदे हरि की चाकरी

वह घोर दासता और दमन का काल था। शासन दूसरों का। देश और प्रजा शस्त्रहीन, विवशप्राण।

उस समय (संवत् १६३०) तिजारा के फौजदार को 'साहिबे-हुक्म' कहते थे। वह मुगल था। उससे कुछ मुस्लिमों ने शिकायत की कि रामगढ़ का लालदास है तो मेव मुसलमान, लेकिन न रोजा-नमाज करता है, न कुरान मानता है, बल्कि कहता है, "हम तो हरि के चाकर हैं। हमारा साहिब एक राम है, वही हमारा खुदा है और परमेश्वर है।"

भला जो 'हरि' का नाम ले, राम की दुहाई दे, वह क्या काफिर नहीं हुआ ?

बात थी भी बड़ी अद्‌भुत। संत लालदास ने मुसलमान होकर भी अपने पुत्र का नाम रखा था 'पहाड़' और पुत्री का नाम रखा था 'स्वरूपा', क्योंकि वह बड़ी सुंदर थी। आगे ये दोनों संतानें भी पिता के पथ पर चल कर रामभक्त कहलायीं, हरि या हर में लौ लगायी। यही नहीं, लालदास के दो सगे भाई थे शेर खाँ और गौस खाँ। ये दोनों भी अपने भाई की भाँति हरि के दीवाने हुए, भक्त हुए। कुल में एक राम-भक्त हुआ तो पूरा कुनबा भक्ति-रस में सराबोर हो गया, पवित्र हो गया— भारतीय संस्कृति की भागीरथी के पुण्य-प्रवाह में निमग्न। ऐसे थे संत कवि लालदास, और अब तिजारा के मुगल साहिबे-हुक्म के सामने समय उनकी परीक्षा ले रहा था।

लालदास साहिबे-हुक्म के हुजूर में पेश हुए तो उनके साथ बिन बुलाये ही उनके १२ शिष्यों की टोली भी आयी। यह देखकर साहिबे-हुक्म ने सोचा— चाहे जो हो, इस व्यक्ति का प्रभाव बहुत लोगों पर है। फलतः उसने उन सबके साथ कोई दुर्व्यवहार तो नहीं किया, किंतु हुक्म हुआ साहिबे-हुक्म का कि 'लालदास अगर मुसलमान हैं तो गाय का गोश्त खाकर इस बात को साबित करें और उनके बारहों शागिर्द भी गोश्तखोरी करके उनका साथ दें।'

लालदास के दृढ़-बद्ध ओष्ठ-पुटों से एक स्वर फूटा— "नहीं, कभी नहीं। हम सब जान दे सकते हैं, गो-मांस न छुवेंगे।" उनके उन १२ शिष्यों में कुछ हिन्दू भी थे, वे गो-मांस न खाते तो साहिबे-हुक्म को अचरज न होता, किन्तु यह तो मेव मुसलमान लालदास इंकार कर रहा था।

साहिबे हुक्म चिढ़ गया। बोला— "इनके खिलाफ जो भी शिकायत है, दुरुस्त है। ले जाओ और इन सब को कैद में बंद कर दो। सड़ने दो कैदखाने में, सब कुफ्र रफा हो जायेगा।" बंदी हो गये, किंतु अगले दिन ही जाने किस सिद्धि से ये अपने बारहों शिष्यों के साथ मुगल बंदीगृह से छू-मंतर हो गये, और फिर साहिबे-हुक्म की पकड़ में न आये। फौजदार भी डरा कि इस व्यक्ति में कोई दैवी शक्ति अवश्य है।

ये जन्मे थे अलवर (राजस्थान) के धौलीपुरा ग्राम में किंतु दमन और अत्याचार से बचने के लिए एक बार जब रामगढ़ के बांदोली ग्राम में रह रहे थे, एक मुगल का कारिन्दा बड़ा अत्याचार कर रहा था। इनके हिन्दू शिष्यों की बहू-बेटियों की बेइज्जती करने पर वह उतारू था। उसे लालदास ने कड़े शब्दों में चेतावनी दी, भर्त्सना की। उसी समय एक दिन लालदास के एक तरुण शिष्य को क्रोध आया तो उसने उस दुष्ट मुगल को काटकर उसकी बोटी-बोटी चील-कौवों को खिला दी। इस हत्या पर लालदास मौन रहे, यह देखकर कुछ मुसलमानों ने बहादुरपुर के फौजदार से कानाफूसी की कि 'मुगल कारिंदे के कत्ल में लालदास का ही हाथ है— उसी के इशारे पर उसके एक शागिर्द ने उसे मार डाला है।' एक हिन्दू किसी शाही चाकरी में लगे मुगल को मार डाले, उस काल में यह साधारण बात नहीं थी।

फौजदार ने लालदास और उनके समस्त शिष्यों को तलब किया। सब वहाँ गये। साथ में एक भीड़ चली, जिसमें हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। यह देखकर फौजदार चकराया कि आखिर इस व्यक्ति का इतना प्रभाव क्यों है ?

फौजदार पूछता है, 'तुम कौन हो ? क्या पेशा है ?' आप कहते हैं, 'यह सवाल फिजूल का है, इसमें जहालत भरी हुई है, क्योंकि साधु का नाम क्या और काम क्या ? हाँ, यह शरीर अवश्य मेवों की बिरादरी की देन है, कपड़े भी उन्हीं जैसे पहनता हूँ।'

फौजदार को यह उत्तर अच्छा न लगा। गुस्से में उसने सजा दे दी— "सब लोग फौरन पाँच-पाँच रुपये बतौर जुर्माना हाजिर करो।"

लालदास ने कहा— "जब हमने कोई खता ही नहीं की तो जुर्माना क्यों भरें ?"

हाकिम और झल्लाया। उसने कहा— "ये लोग ऐसे न मानेंगे। जाओ, किसी जंगल के कुएं से जहरीला पानी लाकर इन्हें पिला दो।"

जंगल में एक विषाक्त जल वाला पुराना कुआँ खोज कर उसका पानी लालदास और उनके शिष्यों को पिलाया गया। किंतु फौजदार यह देखकर दंग रह गया कि वह विषैला पानी उन सबने पिया, लेकिन उनमें से मरा कोई नहीं। फौजदार ने जब उस कुएं के पानी की जाँच करवायी तो पता चला कि पहले तो यह कुआँ एकदम खारी था, लेकिन आज पता नहीं किस कारण इसका पानी बहुत मीठा और शीतल हो गया है!

लालदास तो नहीं रहे, लेकिन बहादुरपुर में वह 'मीठा कुआँ' अभी भी विद्यमान है। उस कुएं का नाम ही तब से मीठा कुआँ पड़ गया। यह चमत्कार देखकर मुगल फौजदार ने तुरंत उन सब की मुक्ति का आदेश दे दिया।

ये उस समय एक छोटी पहाड़ी पर कुटिया में रहते थे। रोटी-पानी के लिए जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठी कर बेचा करते थे। किसी ने यदि इन्हें दान में धन देना चाहा तो कभी स्वीकार नहीं करते थे।

लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमा कर खाय।

हिरदे हरि की चाकरी, पर-घर कभू न जाय।

एच. ए. रोज नामक अंग्रेज ने अपने ग्रंथ 'ए ग्लॉसरी आफ दि ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ़ दि पंजाब एंड नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रॉविन्स' में ये घटनाएं दी हैं।

आगरे में किसी व्यवसायी का एक जलयान दूर समुद्र में कहीं तूफान में फँसकर भटक गया। उस पर लाखों रुपये का पण्य लदा था। व्यवसायी चिन्ता-ग्रस्त हो संत लालदास के पास आया, कहा— "महाराज! बड़े संकट में हूँ। जहाज सागर में डूब न जाये। आप आशीर्वाद दें— यह प्रार्थना है।"

लालदास तो औला-मौला थे, कहा— "ठीक है। तुम्हारा जहाज डूबेगा नहीं।"

सच ही जहाज माल सहित पत्तन पर आ लगा। तब वह व्यवसायी बहुत कुछ धन और उपहार लेकर संत लालदास के पास आया। कहा— "मेरी यह भेंट स्वीकार करें। आपकी कृपा से मेरा जहाज और माल दोनों तूफान से बचकर आ गये। आपका कृतज्ञ हूँ।"

लालदास ने कहा— "सेठ! हम यह कुछ नहीं लेते। जंगल से लकड़ी बीन कर बेचते हैं और दो रोटी खा लेते हैं। सुख है, आनन्द है। आप यह सब धन और सामान गरीब दु:खियों में बाँट दें, यह अच्छी बात होगी।"

सेठजी ने वह सब बहुमूल्य सामान और धन निर्धनों और असहायों में बँटवा दिया।

रामभक्त लतीफशाह

महाराष्ट्र के महान् संतों में मुसलिम राम-भक्त लतीफशाह का नाम उल्लेखनीय है। कुछ वर्ष पूर्व केन्द्रीय सरकार के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित एक पुस्तक में संत लतीफशाह के विषय में कुछ जानकारी छपी थी। पुस्तक के प्रारम्भ में दिये गये तत्कालीन उपराष्ट्रपति एम. हिदायतुल्ला के विचारों में पुस्तक को अत्यन्त 'प्रेरक और उपयोगी' बताया गया है। सरकारी प्रकाशन ने यह पुस्तक छापी, यह बड़ी बात है। कारण, इसमें दिखाया गया कि लतीफशाह का जब एक बादशाह से सामना पड़ा तो चमत्कार घटित हुआ। चित्र में अंकित श्रीकृष्ण लतीफशाह के दरख्वास्त (निवेदन) करने पर राधा जी के हाथ से पान लेकर खाने लगे। आज के बुद्धिवादी शायद ही इस चमत्कार पर विश्वास करें।

वास्तविकता यह है कि मुसलमान होकर भी लतीफशाह बड़े ऊँचे स्तर के राम-भक्त थे। वे राम, श्रीकृष्ण और विट्ठल को अभिन्न समझते थे। संत एकनाथ इन्हें मानते थे, उनकी कृपा और स्नेह इन्हें प्राप्त था। रंगनाथ स्वामी निगड़ीकर ने इन्हें सराहा। मराठी कवि मोरोपंत की लिखी 'सन्मणि-माला' और सिद्ध चैतन्य व रंगनाथ स्वामी निगड़ीकरकृत 'सन्तमालिका' में लतीफशाह की गरिमा वर्णित है। उससे पता चलता है कि ये १६ वीं शताब्दी में हुए और मराठी के साथ ही हिन्दी में भी पद-रचना की। इनका एक पद है—

राम-नाम नौबत बजाई।
पहिली नौबत नारद तुंबर, दुसरी नामा कबीर सुनाई।
तिसरी नौबत सुदामा की, प्रह्लाद की जिन्ने राखी बड़ाई।
कहत 'लतीफ' सुन मेरे भाई, धन्ना जाट और मीराबाई॥

सिद्ध है कि ये नामदेव, कबीर, धन्ना जाट, मीराबाई के बाद हुए। राम-नाम पर लतीफ का इतना विश्वास और भरोसा है कि उससे प्राणी संसार-सागर के पार उतर सकता है—

राम - नाम तिनकू, हमारी राम - नाम तिनकू,।
जो सर प्राणी हरि के उपासक, आप तरे तारे औरन कू॥
कहे 'लतीफ' मैं पूजूँ उनकू, सुमिरत मुरलीधर कू॥

साधु-निन्दा लतीफ को गवारा नहीं, कहते हैं—

साधु की निन्दा, बड़ा गुनहगार बंदा।

१६वीं शताब्दी की हिन्दी का यह नमूना मराठी-भाषी लतीफशाह के उन पदों में प्राप्त होना एक सुखद प्रसंग है।

अब लतीफ शाह और एक बादशाह से संबद्ध चमत्कार की घटना उद्धृत करते हैं। कठमुल्ले काजी और मौलवी लतीफ को बजाय मुसलमान मानने के 'काफिर' कहते थे और प्राय: वहाँ के मुसलमान बादशाह से लतीफ की शिकायत करते रहते थे कि "यह

आदमी हमेशा कुफ्र फैलाता रहता है, दीने इस्लाम का बड़ा नुकसान करता है, इस्लाम की तौहीन होती है। इसे शरअ के मुताबिक सज़ा दी जानी चाहिए।''

कान भरते रहे वे, तो बादशाह ने हुक्म दे दिया— ''लतीफशाह को दरबार में हाजिर (उपस्थित) किया जाये।'' शाही फरमान लेकर बादशाह के सिपाही लतीफ के पास पहुँचे तो वहाँ क्या देखा कि लतीफशाह बहुत लोगों से घिरे कोई मोटी-सी पुस्तक पढ़ रहे हैं और उसका अर्थ भी बड़ी भावुकता के साथ समझाते चलते हैं। वहाँ विद्यमान हर व्यक्ति बड़ी ही पवित्र भाव-धारा में डूबा है। सिपाही एकाएक उस वातावरण में लतीफशाह को शाही फरमान सुना नहीं सके, बल्कि सोचा— कुछ देर ठहर क्यों न जायें। बैठ गये वे सिपाही भी उसी सत्संग में। और संगति का प्रभाव होता ही है। 'सत् संगति महिमा नहिं गोई।'

बैठे-बैठे उन सिपाहियों को भी उस कथा का रस आ ही गया। वह कथा थी, 'भागवत' की। उसमें श्रीकृष्ण का लीलामय चरित्र वर्णित है। लतीफशाह 'भागवत' कथा के बड़े प्रेमी थे।

उधर बादशाह उन सिपाहियों की प्रतीक्षा ही करता रह गया। जब देर तक वे न लौटे तो बादशाह क्रुद्ध हुआ और ताव-तैश खाकर स्वयं घोड़ा दौड़ाकर, तलवार तौलता लतीफशाह के पास पहुँचा। किंतु जो दृश्य उसने वहाँ देखा, उससे वह चकित रह गया। देखा, लतीफशाह के मुख पर जैसे खुदाई नूर (दिव्य तेज) बरस रहा है और वे एक किताब (ग्रन्थ) से कुछ पढ़कर लोगों को सुना-समझा रहे हैं, कभी रोते हैं तो कभी हँसते हैं। उनके साथ ही सुनने वालों का भी तार ऐसा जुड़ा हुआ है कि उन बातों को सुनते हुए वे भी रोते-हँसते हैं, लतीफ के साथ। 'ऐसा जादू है इस शख्स की जुबान में, तौबा है! अच्छा, ज़रा हम भी जायज़ा लें, लतीफ की किस्सागोई (कथा-वाचन) का।'

बैठ गया बादशाह भी घोड़े से उतरकर वहीं। तलवार म्यान में रख ली। और लतीफशाह की यह दशा थी कि उन्हें कोई भी अंतर नहीं पड़ा, चाहे वहाँ हथियारबंद सिपाही आये या स्वयं बादशाह आया। उनका कथा-रस अजस्र स्रवित होता रहा। लतीफ और श्रोता समाज सब सुध-बुध बिसारे उस दिव्य कथा-रस में डूबे रहे। कहा है न कि *'रसौ वै स:'*— वह (ब्रह्म) रस ही है। अब एक दृष्टि जो बादशाह ने लतीफ की लम्बी-चौड़ी बैठक में डाली तो देखता है कि वहाँ तो हर दीवार पर हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र लगे हुए हैं। उनमें एक चित्र बादशाह को बड़ा सुन्दर लगा। वह दृश्य यह था कि श्रीकृष्ण को राधा रानी अपने हाथ से पान का बीड़ा समर्पित कर रही हैं। अब यह चित्र देखा तो बादशाह को उन चित्रों या कि लतीफशाह का मखौल उड़ाने की सूझी। कहने लगा—

''मियाँ लतीफ, तुम कैसे बन्दे हो इस्लाम के कि ये कुफ्र से लबरेज़ तस्वीरें लगा रखी हैं यहाँ! ये बेमानी और बेअसर होने के साथ ही जहालत की निशानी हैं।'' लतीफ ने पहचाना बादशाह को और वहाँ शान्त बैठे सिपाहियों को भी। फिर बड़े प्रेम से कहा—

''जनाब! इन्हें फकत तस्वीरें न समझो। इनमें हर वह ताकतोताब (तेजोबल) मौजूद है जो इन्सानी चोले में नहीं।''

बादशाह बोला— ''कैसे यकीन कर लूँ? अब (संकेत करके) उस तस्वीर को ही देखो। तस्वीर तो वाकई बड़ी ख़ूबसूरत है, लेकिन उसका मतलब क्या? जो लड़की किशन जी को पान नज़र कर रही है, वे उसे खा कहाँ रहे हैं? नहीं खा सकते। आखिर कागजी तस्वीर ही तो है, वर्ना वे यह पान कभी का खा चुके होते। पान क्या अब तक हाथ में ही थमा रहता?''

लतीफशाह को बात लग गयी। वे कृष्ण-राधा का अपमान सहन न कर सके। हाथ जोड़ कर उस चित्र के सामने आ खड़े हुए। निवेदन किया—

''संसारी जीव आपकी महिमा क्या समझे! नासमझी-नादानी करता है। हे हरि! हे मुरलीधर! अपना विरद रखो। राधारानी से आपका प्रेम सनातन है। वे आपको प्रेम से पान दे रही हैं। अब आप उनका बीड़ा स्वीकार करके खा ही लें। आपके पान-रचे अधर यह नाचीज लतीफ देखने को तरस रहा है।'' और इतना कहना था कि विस्मय से बादशाह ने, सब श्रोता-समाज ने, देखा कि कृष्ण जी ने मुँह बढ़ा कर राधा जी का पान ले लिया, और फिर पान चबाते देखा गया उन्हें। बादशाह को लगा कि क्या वह कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा! या यह लतीफशाह नज़रबन्दी के फन में माहिर है? या खुदा! या परवरदिगार! यह माजरा क्या है? फिर देखा लतीफ की ओर, तो वे भक्त-प्रवर झर-झर आँसू रोये जा रहे थे। आँसू थम नहीं रहे थे लतीफशाह के। और तब बादशाह को जैसे अन्दर से कोई पुकार आयी। वह लतीफशाह के चरणों में जा झुका। प्रार्थना की उनसे शिष्य बना लेने की। भक्त ने भी उसे शरण में लिया, उसे राम-मंत्र दिया। ऐसे थे भक्त लतीफशाह।

काजी से बने गरीबदास

सन्त दादू के बाद उनकी गद्दी पर संत गरीबदास बैठे, क्योंकि उनके गुरु का यही आदेश था। ये गरीबदास पहले मुसलमान थे और अजमेर के, जिसे सांभर कहते थे, काजी थे। उस काल में विवादों, मुकदमों का निपटारा बादशाह की ओर से नियुक्त काजी ही किया करते थे।

एक बार क्या हुआ कि अजमेर का वह काजी आमेर आया किसी काम से तो वहाँ उसे पता चला कि बड़े विद्वान् संत की यहाँ किला रामबाग के निकट संगत है, जहाँ उनके उपदेश होते हैं। जाने किस अज्ञात प्रेरणा से उस शाही काजी ने भी किला रामबाग की ओर अपने खुरासानी घोड़े की बाग मोड़ दी। वह भी दादू दयाल की संगत में जा बैठा। उनके सत्संग का उस पर अचूक प्रभाव हुआ और उसे अनुभव हुआ कि संत दादू जी जो कहते हैं, वही सच है और उसी पर सच्चाई से आचरण करना कर्तव्य है।

अत: आप भी दादू की शरण में आकर उन्हीं के मत में दीक्षित हो गये। उनका नया नाम दादू ने रखा गरीबदास। शाही हरकारों ने यह समाचार मुगल बादशाह को दिया तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने आमेर के राजा को शिकायती पत्र लिखा कि 'तुम्हारे राज्य में एक फकीर ने हमारे काजी को अपने मजहब में मिलाकर उसे बेदीन बना डाला है। ऐसा कैसे हुआ ?'

इस चिट्ठी की बात जानकर दादू अपने शिष्य गरीबदास को लेकर बादशाह के पास गये और कहा कि 'आप इसी से सीधे दरयाफ्त करें कि आपके ये काजी साहब क्यों हमारे साथ आ गये।'

बादशाह ने गरीबदास से पूछा— "क्यों मियाँ! आपने इस्लाम में क्या कमी देखी जो कुफ्र अख्त्यार कर लिया है ?"

गरीबदास ने कहा— "हुजूर, यह नाचीज आप को क्या जवाब दे, अलबत्ता आप अपने आलिमों व मौलवियों को यहाँ बुलायें, मैं उनसे चंद सवाल करूंगा।"

विद्वान् मौलवी व आलिम बुलाये गये। गरीबदास ने उन के समक्ष अपनी कई शंकाएं रखीं जिनका वे कोई समाधान न कर सके। तब गरीबदास ने बादशाह से कहा— "हुजूर! यही शंकाएं और सवाल मुझे दादू साहब के कदमों में ले गये और उनसे मैं मुतासिर (प्रभावित) हुआ।"

बादशाह को भी मौलवियों की अज्ञानता पर चिढ़ हो गयी। उसने फतवा दिया, "जाओ गरीबदास, अब तुम काजी का काम करने लायक नहीं रहे और न दीने इस्लाम में ही तुम्हारा ईमान कायम रह गया है। इसलिए जिधर जाना चाहो, जा सकते हो।"

मुगल बादशाह ने जो चिट्ठी आमेर राज्य को लिखी थी, वह जयपुर के अभिलेखागार में आज भी देखी जा सकती है।

रज्जब तैं गज्जब किया

एक बार जयपुर गया। वहाँ नगर देखने के विचार से बाहर विचर रहा था कि एक स्थान पर लाल रंग की पगड़ी और लाल ही रंग का अंगरखा पहने हुए कुछ लोग मिले। मैंने पूछा— "तुम्हारा यह वेश क्यों ?" तो उन्होंने एक विलक्षण-कथा सुनायी अपने उस रक्तवर्णी वेश की। तदनुसार सांगानेर के एक मुसलमान रज्जब अली खाँ ब्याह के वस्त्र पहने, बरात सजाये जा रहे थे आमेर, जहाँ से उन का ब्याह होना था। वे लोग विवाह में लाल वस्त्र पहनते थे, विशेषकर जो दूल्हा होता था वह लाल अंगरखा और लाल पगड़ी ही पहनता था। रज्जब अली भी ऐसे ही लाल रंग के कपड़े पहने थे। मार्ग में आमेर के समीप संत दादू की संगत जुड़ी थी। सत्संग और उनके उपदेशों की धूम मची थी। बरातियों और रज्जब की भी इच्छा हुई कि यह सुअवसर क्यों चूका जाये! अतः बारातियों सहित आप भी संत की संगत में बैठकर उपदेश सुनने लगे। संत सिद्ध थे, अतः उन्होंने बिना बताये ही रज्जब को सुनाकर कहा—

"रज्जब तैं गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर।
आया था हरिभजन को, करे नरक का ठौर॥

दादू की वाणी रज्जब अली के हृदय में गहरे पैठ गयी। वे गहन चिन्तन में डूब गये। चिकने घड़े नहीं थे। कहा-सुना उन्हें लगता था। उसको मन ही मन गुना करते थे। सोचने लगे— संतजी ठीक ही कह रहे हैं। मैं भी किस फेर में पड़ गया! जीवन क्या उसी में खटने के लिए है ? दादू जी के कहने का मर्म यह कि तूने जन्म किसलिए लिया और कर क्या रहा है! माया-मोह में पड़कर अपना जीवन-ध्येय ही विसार बैठा है!

रज्जब की कायापलट हो गयी। उन्होंने ब्याह के कपड़े त्याग दिये, सेहरा-कंगन सब दूर कर दिये। भाई से कहा— "मेरे बदले तू उस लड़की से निकाह कर ले ताकि उसे दुःख न हो। मैं तो आजन्म ब्रह्मचारी रहकर दादू साहब के विचारों का प्रचार करूंगा।"

विवाह से विरत

पिता ने तथा संबंधियों ने उन्हें बहुत समझाया, पर सब व्यर्थ। वे वैराग्य के पक्के रंग में रंग गये और हिन्दू धर्म-दर्शन को आत्मसात् कर लिया। उसी क्षण की स्मृति में दादू-पंथी अब भी ब्याह-शादी के लाल रंग के ही कपड़े पहना करते हैं। रज्जब की एक पुस्तक भी है— 'रज्जब जी की वार्ता'।

अनन्तर मैं एक सज्जन के साथ आमेर गया। सबेरे का समय था। वहाँ शिला देवी का मंदिर देखा और वह स्थान भी जहाँ दादू जी की संगत जुड़ती थी, जहाँ रज्जब प्रथम बार ही उनके उपदेशों से प्रभावित होकर विवाह करने से विरत हो गये थे। वह स्थान

दिलारामबाग के निकट है। कहते हैं— इस स्थान पर ५० से ऊपर अहिन्दुओं ने दादू मत ग्रहण किया था और वे हिन्दू धर्म-दर्शन के रंग में रंग गये थे। रज्जब जी ने लिखा है :

रज्जब की अरदास यह, और कहै कछु नाहि।
मो मन लीजै हेरि हरि, मिले न माया माहि॥

— अर्थात् रज्जब की मात्र इतनी की कामना है कि मेरे मन को हे हरि! एक बार कृपा-कटाक्ष द्वारा अपनी ओर लगा लीजिए, ताकि यह माया में न डूबने पाये।

इतने ऊपर हरि-भजन

अकबर और जहांगीर द्वारा पुरस्कृत होने के कारण गर्व से भरा चारण कवि दूरसा आढ़ा एक बार सांगानेर में इन्हें एक समस्या देकर चुनौती दे बैठा। समस्या पूरी करनी थी—

बावन अक्षर सप्त स्वर, गलभाषा छत्तीस।
इतने ऊपर जो कथे, तो मानूँ कवि ईश॥

रज्जब ने इस समस्या की पूर्ति यों की कि

बावन अक्षर सप्त स्वर, गल भाषा छत्तीस।
इतने ऊपर हरि-भजन, अन अक्षर जगदीश॥

पूर्ति इतनी सटीक थी कि दूरसा चारण रज्जब का शिष्य हो गया।

ये पूरे १२२ वर्ष भजन करते हुए संवत् १७४६ में संसार छोड़ गये। दादू के एक अन्य शिष्य कवि सुन्दरदास से इनकी प्रगाढ़ मित्रता थी। सुन्दरदास को वेद-वेदांगों का पारंगत विद्वान् बनाने के लिए रज्जब ने उनको वेद पढ़ने काशी भेजा। रज्जब जी सांगानेर में ही संवत् १६२४ में एक पठान परिवार में जन्मे थे। उनकी वाणी और आदर्श सदैव स्मरणीय हैं। वे कहते थे—

'एकहि पवन, एक ही पानी, बुधि बिन बीच बैरता ठानी।
एकहि आतम, एक सरीरा, समझ बिना बड़ अंतर बीरा॥

राम-भक्त वाजिन्द जी

हिन्दी कवि वाजिन्द जी के विषय में अत्यल्प जानकारी उपलब्ध है, परन्तु यह निर्विवाद है कि ये पहले इस्लाम मत के मानने वाले मुसलमान थे और पठान परिवार में जन्मे थे। इन्हें जंगल में शिकार करने का बड़ा शौक था। धनुष-वाण लिया और जंगल की ओर निकल गये। कोई न कोई जीव इनके वाणों का शिकार बन ही जाता था जो कि इनके मांसाहारी परिवार के रसोईघर के काम आता था।

एक बार ऐसे ही जंगल में हिरन का शिकार करते-करते न जाने क्या हुआ कि इन्हें जीव-हत्या से घृणा हो गयी, उसके स्थान पर जीव-दया उपजी। धनुष-वाण त्याग दिये। संसार के प्रति वैराग्य-भावना जागी और सांसारिक भोगों व ऐश्वर्य की निस्सारता का बोध हुआ। अब ललक लगी कि गुरु कहाँ मिले ? गुरु बिना ज्ञान कहाँ ? अत: लगे गुरु की खोज में वाजिन्द जी। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ।' खोजो, तो वह एक दिन मिलता ही है। वाजिन्द को भी आखिर मिल गया, जिसकी उन्हें तलाश थी। वे गुरु थे, महात्मा दादू जी। अपने पूर्व के मजहब और कौमियत सभी को तिलांजलि दे दी। वे पूर्ण रूप से संत दादू के हो रहे और हिन्दू धर्म को मन-प्राणों से अपना लिया। नाम यद्यपि 'वाजिन्द' ही रहा। साधना सिद्ध होने पर और कभी साधना-काल के बीच ही स्वयमेव अप्रयास ही वाणी आती है, हदय-वीणा से काव्य-छंद झंकृत होने लगते हैं। यह होता ही है साधना-शक्ति से, चाहे साधक पढ़ा हो या न पढ़ा हो। कबीर, रैदास, मीरा का यही हुआ। वाजिन्द का भी वैसा ही हुआ। उनकी वाणी से काव्य-धारा फूटी तो वे लिखते ही गये। १४ ग्रंथ रच डाले। १. ग्रन्थ गुण-नाम माला, २. ग्रन्थ गुण- उत्पत्तिनामा, ३. ग्रंथ प्रेमनामा, ४. ग्रंथ गरजनामा आदि पूरे १४ ग्रंथ प्रांजल हिन्दी में ही रचे। दोहा-चौपाई तथा पदों में काव्य-रचना की। यथा वाजिन्द जी की राम-भक्ति देखिये, कैसी राम के प्रति आस्था और गहरा विश्वास है :

''एक राम को नाम लीजिये नित्य रे।
और बात 'वाजिन्द' चढ़े नहिं चित्त रे॥
जग के औरो देव नजरि नहिं आव हो..... ॥''

— 'वाजिन्द' कहते हैं, ''नित्यप्रति राम का नाम स्मरण करो। राम के सिवा और कोई बात चित्त में चढ़ती नहीं, रुचती नहीं। श्रीराम के अतिरिक्त कोई देवता नजर नहीं आता।''

उन्होंने मुस्लिम के नाते इस्लाम मजहब छोड़ दिया और अब 'प्रिय' (श्रीराम) से नाता जोड़ लिया। कहते हैं—

''हरि हाँ! दास आज, तजि और, बँधे हैं पीव सूँ................ ''

और सब को त्यागकर आज तो 'वाजिन्द' अपने परम प्रिय (श्रीराम) से बँध गया—

''गाँठ जोड़ ली अपनी प्यारे राम से।''

फिर क्या करते हैं 'वाजिन्द' कि—

''साथ रहे सिर टेक प्रभु के पौर सूँ।
हरि हाँ! दास पास दिवान विन्धै क्यूँ और सूँ॥

—अब तो 'वाजिन्द प्रभु राम के द्वार पर सिर टेककर उन्हीं के शरणागत हो रहता है। जब दास (वाजिन्द) के पास ही 'दीवान' (राम) विद्यमान हैं तो और किसी देवता से सम्बन्ध रखने की आवश्यकता क्या है ?'' और अब तो यह दिनचर्या है कि—

''अविनासी की ओट रहत हैं रैन-दिन।
बिना प्रभु के पायँ भजै नहिं एक छिन॥''

— अब तो वाजिन्द रात-दिन उस एक ही अविनाशी (राम) की ओट लेकर रहता है। उसके चरणों के भजन बिना उससे एक पल-छिन भी नहीं रहा जाता।

फिर यह स्थित बनी कि—

''दुरमति गयीं सब दूर, निकट नहिं आवहीं;
हरि हाँ! साधु रहे मुख मौन कि गोविन्द गावहीं।''

—'वाजिन्द' कहते हैं कि ''जीवन में जो भी दुर्मति-कुमति थी अब तक, वह सब विनष्ट हो गयी; वह अब पास न फटकेगी, क्योंकि 'वाजिन्द' या तो एक दम मौन धारण कर लेता है या फिर गोविन्द के गुणानुवाद गाता है।'' साथ ही अब—

''कुंजर कीरी आदि सर्व सूँ हेत है,
हिरदै उपजा ज्ञान दुःख नहिं देत है।''

— अब चाहे कुंजर (हाथी) हो या कीरी (छोटा कीड़ा), सभी का कल्याण चाहता है 'वाजिन्द'; सभी जीवों का हितैषी है; क्योंकि जब से हृदय में ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, तबसे 'वाजिन्द' किसी भी जीव को सताता नहीं—दुःख नहीं देता।

और अब 'वाजिन्द' अपनी बड़ाई क्या करे क्योंकि—

''कहा वरणौं 'वाजिन्द' बड़ाई जन की,
काम-कल्पना दूर गयी सब मन की,
अष्ट सिद्धि नव निद्धि फिरत हैं साथ रे!....... ''

— 'वाजिन्द' द्वारा अब आत्म-प्रशंसा शक्य नहीं। किसी कामना की अब वह कभी कल्पना भी नहीं करता। मन की कामनाएँ-इच्छाएं-ईषणाएं अब दूर हो गयीं। आठों सिद्धियाँ और नवों निधियाँ 'वाजिन्द' के साथ ही घूमती-रहती हैं.....''

'वाजिन्द' उपदेश करते हैं कि—

''सतगुरु शरणों आयके तामस त्यागिये।
बुरी-भली कहिजा या उठ नहिं लागिये॥

मुसलिम संत कवि वषनाजी

एक मुसलमान युवक था, जो प्राय: अपने संगीत-प्रेम के कारण जो मन में आता, अनाप-शनाप गाने अलापा करता था। जब जीवन में कोई ध्येय न हो, तो उत्तम विचार, सात्विक जीवन कहाँ से हो! उस मुसलमान युवक की भी यही स्थिति थी। एक दिन अपने दोस्तों के बीच बैठा वह आशिकी गाना गा रहा था जिससे वहाँ का वातावरण दूषित हो रहा था। तथापि उसका स्वर आकर्षक और सुरीला था। गाता भी था भलीभाँति स्वर-लय के तार बाँधकर, मगन-मन होकर, पर गाने का भाव श्रोता को पतनशील ही बनाने वाला था—ह्रासोन्मुख। उसी समय वहाँ अपने मार्ग चलते एक महात्मा आ निकले, नाम था उनका— दादू जी। महात्मा को लगा कि यह लड़का गाता तो अच्छा है, पर भटका हुआ लगता है, इसी से वाही-तबाही गा रहा है। वैसी ही संगत भी है इसकी। क्या ही अच्छा हो, काश! यह भक्ति के, ईश्वर-प्रेम के गीत इसी मस्ती और उमंग से गाये।

किसी पर संत-कृपा हो जाये, तो फिर असंभव क्या ? दादूजी ने उस आवारा किस्म के गवैया युवक को टोका, अपने साथ बैठाया। कुछ सिखाया-बताया। उसका महात्मा दादू जी से मिलन हुआ तो उसके सोये संस्कार जागे। पारस के संस्पर्श से लोहा स्वर्ण-सा चमकने लगा। वह युवक दादू जी का शिष्य हो गया और उसका नाम पड़ा— 'वषना जी'। उसके मन में अपने गुरु के प्रति अपार प्रेम-श्रद्धा-आदर का भाव आ भरा, इतना कि एक दिन जब दादू जी की देह छूटी तो वह बिलख-बिलखकर रोने लगा। दादू जी के संपर्क-संगति से जब उसकी चेतना जागी तो उसकी वाणी काव्य-रचना में समर्थ हो उठी। अपने गुरु दादूजी के दिवंगत होने पर वह कविता की भाषा में ही रोया, जो इस प्रकार है—

''बीछड़्या राम-सनेही रे, म्हारे मन पछतावो येही रे।
बिलखी सखी-सहेली रे, ज्यों जल बिन नागरबेली रे॥''

अर्थात् ''मैं अब उन राम-स्नेही, राम से प्रेमाभक्ति करने वाले गुरु दादू जी से बिछुड़ गया हूँ। मेरे मन में यही पछतावा आ समाया। आज अपने उन परम प्रिय (दादूजी) के वियोग में सभी उनके प्रेमी भक्त, शिष्यगण अपने प्रिय से वियुक्त सखी-सहेलियों की भाँति बिलख-बिसूर रहे हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे जल के बिना नागरबेली की दारुण दशा हो जाती है, कुम्हला कर सूखने लगती है।'' आगे कहते हैं 'वषनाजी' कि—

''भरि-भरि प्रेम पिलावे रे, कोई दादू आनि मिलावे रे।
'वषना' बहुत बिसूरे रे, दरसण के कारण झूरे रे॥''

अर्थात् ''अब गुरुजी की भाँति हमें प्रभु (परमात्मा)-प्रेम के भर-भर प्याले कौन पिलायेगा ? कोई आकर हमें दादू जी से मिला दे। यह 'वषना', दादू जी का शिष्य आज बहुत रो रहा है और गुरु-दर्शन बिना झुरा रहा है उसका शरीर—क्षीणगात हो रहा है 'वषना'।''

ऐसा उत्कट प्रेम जिस किसी को अपने गुरु के प्रति हो, उसके लिए संसार में अगम-अगोचर क्या! दादूजी के ५२ शिष्य थे, पर उनमें 'वषनाजी' अप्रतिम थे। जन्मे थे, सांभर से ६ मील दूर पूर्व में स्थित एक गाँव, नारायणा में। मुसलमान परिवार था उनका। संवत् १६०० या उसके सन्निकट इनका जन्म अनुमानित है। सांभर-प्रवास में दादू जी संवत् १६२० विक्रमी में पहुँचे थे और फिर १२ वर्ष वहीं रहे थे। इसी बीच वषनाजी का सम्बन्ध-संपर्क दादू जी से जुड़ा और उनके जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन आया। दादू जी ने वषना जी को चेताया कि यह क्या गाते हो ? भगवान् ने मधुर कंठ दिया है तो उसी के गीत गाओ। और फिर वही गाते रहे वषना जी, भगवत्प्रेम के गीत। वाणी सार्थक हो गयी। वे कहते भी थे—

''म्हारे गुराँ कह्यो, सोई कर स्यूँ हो।
खार समंद में मीठी बेरी कर, सूधै घड़लै भरस्यूँ हो॥''

— कि जैसा मेरे गुरु ने बताया, वही करता हूँ। यह संसार खारा समुद्र है, पर मैं उसमें से परमात्मा-प्रेम का मीठे जल का घड़ा भरता हूँ।

कहते हैं एक बार जलालुद्दीन अकबर का शहजादा सलीम (जहांगीर) अजमेर जाते हुए नारायणा ग्राम में रुक गया। वहाँ उसने दादू जी के शिष्य गरीबदास और दूसरे कई मुल्ला-काजियों को बुलाकर एक प्रश्न पूछा कि ''अल्लाह ने (यह दुनिया) अशरफुल मखलूकात कब किस समय बनाया ?'' इस्लाम मत में इसका एक ही उत्तर दिया गया है और वह यह कि खुदा ने कहा— ''कुन'' यानी 'हो जा' और यह दुनिया प्रकट हो गयी— बन गयी। हिन्दू धर्म-दर्शन में पूर्व से ही इसका उत्तर रहा है— ''एकोऽहं बहुस्याम्......'' कि ''मैं अकेला ही बहुत हो जाऊँ।'' परमात्मा के इस संकल्प से निखिल सृष्टि की रचना हुई। जो अकेला था, एक, वह बहुत हो गया। उस गाँव में उस दिन वषनाजी भी विद्यमान थे, उन्होंने जहांगीर के उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा —

''जिहिं बेरियाँ यहु सब हुआ, सोहम् किया विचार।
'वषना' बेरियाँ खुशी की, कर्ता सिरजनहार॥''

— जिस क्षण यह जगत् उत्सृष्ट हुआ, हमारे विचार से वह क्षण 'सोऽहम्' (मैं वह परम तत्त्व हूँ) तत्त्वचिन्तन के आनन्द का था और सृजनकर्ता स्वयं कर्तार (ईश्वर) था।''

तात्पर्य यह कि प्रकृति में पुरुष (चैतन्य) का प्रकाशमान प्रतिबिम्ब पड़ने से जो आनंद उपजता है, वह है सत्त्व गुण। वह आनन्द ही सृष्टि का कारण है। इस उत्तर से जहांगीर चुप हो गया और उस गाँव से अजमेर रवाना हो गया। वषना जी की 'साखी' है —

''ढूँढे दीप पतंग नै, तो 'वषना' विरद ले जाई।
दीपक माँहै जोति है, तो घणा मिलैगा आई॥''

— दीपक पतिंगे में कुछ ढूँढे तो क्या मिलना है ? जो ज्योति है, वह तो स्वयं दीपक में ही है। उस ज्योति को पाने से ही, परा ज्योति में जीवन-ज्योति मिलने से ही पूर्णत्व प्राप्त होता है— जीवन सार्थक होता है।

पद्‌मावत-प्रणेता मलिक मुहम्मद जायसी

जिन दोहा-चौपाई छन्दों और अवधी भाषा में गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' की रचना की है, उन्हीं में उनसे भी पूर्व 'पद्‌मावत' नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना मलिक मुहम्मद जायसी कर चुके थे। इससे प्रकट है कि अपनी रामायण के लिए भाषा और छन्द का चयन तुलसीदास जी ने जायसी की कृति से प्रभावित होकर किया होगा।

जायसी उत्तर प्रदेश के रायबरेली जनपद में आज भी विद्यमान जायस नामक ग्राम के निवासी सूफी सन्त कवि थे। जहाँ तक उनके भाषा-ज्ञान की बात है, वे तत्कालीन अवधी भाषा के साथ-साथ फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे, इसका प्रमाण है उनकी फारसी पुस्तक 'आखिरी कलाम'। शेष दोनों ग्रन्थ पद्‌मावत और अखरावट अवधी में हैं। इनमें से पद्‌मावत जायसी का अनूठा काव्य-ग्रन्थ है और इसी के प्रणयन से वे अमर हो गये— यशस्वी। युग बीतेंगे, पर मलिक मुहम्मद जायसी अमर रहेंगे हिन्दी साहित्य में।

विशेष बात यह है कि हुमायूँ के बाप, विदेशी हमलावर बाबर का जलजलाता जालिम जमाना उन्होंने देखा था, परन्तु उसे कोई भाव नहीं दिया अपने साहित्य में। उसका नाम तक लेना ठीक नहीं समझा। इसके विपरीत पद्‌मावत के आरम्भ में ही सराहना की है हुमायूँ को हराकर भारत के बाहर भगा देने वाले दिल्ली के शासक शेरशाह सूरी की, जिसे इतिहासकार भारतीय मुसलिम मानते हैं। लिखा है—

'शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खण्ड तपै जस भानू॥'

अर्थात् दिल्ली का सुलतान शेरशाह चारों खण्डों में ऐसे तप रहा है जैसे सूर्य।

किन्तु अवसर आने पर जायसी उसी शेरशाह को भी फटकारने से चूके नहीं। हुआ यह कि शेरशाह ने प्रथम बार जब जायसी को देखा तो उससे हँसे बिना न रहा गया। उसके ठठाकर हँस पड़ने का कारण यह था कि जायसी की कविता कितनी भी कमनीय हो, वे स्वयं थे बड़े कुरूप और एक आँख से काने थे सो अलग। उन्हें भी समझते देर नहीं लगी कि सुलतान हँस क्यों रहा है। उनकी आँख एक ही थी तो क्या, प्रतिभा और परखने की बुद्धि तो उनमें शेरशाह से अधिक थी। अतः तुरन्त उन्होंने सुलतान से पूछ लिया—

''मोहिं का हँसेसि कि कोंहरहिं ?''

— अरे ! तू मुझ पर हँस रहा है या मुझे बनाने वाले कोंहार (कुम्हार) पर (जिसने यह सारी सृष्टि रची) ?

और शेरशाह अपनी मूर्खता पर लज्जित होकर पानी-पानी हो गया। ऐसे निर्भय, राजसत्ता-निरपेक्ष कवि ने तभी तो भारतीय दर्शन पर आधारित, आध्यात्मिकता से भरपूर महाकाव्य लिखा।

शेरशाह का शासन १५४० ई० से आरम्भ हुआ, अत: उसी के आस-पास पद्मावत की रचना हुई होगी। जब उसे लिखना प्रारम्भ किया तो अपनी आयु जायसी स्वयं बताते हैं— *"तीस बरस उमर कवि बदी।"* अर्थात् तब वे तीस वर्ष के थे।

प्रेमाभक्ति के गायक

पद्मावत प्रेमाभक्ति-ग्रन्थ है जिसमें एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना से जुड़े पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को कल्पना के सहारे विस्तार देकर रूपक में वर्णित किया गया है और उस प्रेम-कथा के माध्यम से जीव द्वारा परमात्मा को पाने की योग-साधना निरूपित की गयी है। चित्तौड़ के राणा रत्नसिंह की रानी पद्मिनी के अनुपम रूप-सौन्दर्य से मोहान्ध अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर निर्लज्ज आक्रमण कर दिया जिसकी परिणति रानी सहित दुर्ग की समस्त वीर-बालाओं के इतिहास-प्रसिद्ध, अनन्य अद्भुत 'जौहर' में हुई थी। इसी कथानक का आधार लेकर रचित पद्मावत में त्रिभुवनसुन्दरी पद्मिनी से राजा रत्नसेन के प्रेम और उसे पाने के लिए किये गये कठिन प्रयासों की कथा है। इसमें प्रेम भी है, भक्ति भी। तभी तो चित्तौड़ का रत्नसेन योगी बनकर, वभूत रमाकर, सुआ (तोता) रूपी गुरु द्वारा दिखाये गये पंथ से अगम घाट, विषम पहाड़, गहरी नदी, विकट खोह और नालों को पार करते हुए स्थान-स्थान पर बटमारों, लुटेरों से बचते-बचाते प्रेम-पथिक का प्रण निबाह रहा है। सुलतान अलाउद्दीन रूपी माया उसे फँसाने, पथ-भ्रष्ट करने पर तुली है और दूत 'शैतान' अलग इस योगी को भुलावे में डालने तथा भ्रभित करने के लिए प्रयत्नशील है। रानी नागमती को जायसी ने संसार बताया है, पद्मिनी (या पद्मावती) को बुद्धि, चित्तौड़ को शरीर और उसके राजा को मन निरूपित किया है। सिंहल द्वीप हृदय है जहाँ इस योगी को पहुँचना है। अपने रूपक का यह रहस्य जायसी ने पद्मावत के अन्तिम भाग में प्रकट किया है जहाँ वे कहते हैं :

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।।
गुरू सुआ जेहि पन्थ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई एहि चित बंधा॥
राघौ दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥

इन्हीं चौपाइयों में पद्मावत के आख्यान की कुंजी है जिससे इस प्रेम-गाथा के आध्यात्मिक रहस्य का द्वार खुलता है। उसके पूरे दर्शन का परिचय देने के लिए तो एक पूरा ग्रन्थ ही लिखना पड़ेगा, यहाँ हमारा उद्देश्य केवल मलिक मुहम्मद जायसी की इस कृति के मूल में निहित उनके ध्येय की ओर इंगित करना मात्र है। पद्मावत में दिग्दर्शित यह प्रेमयोग अर्थात् जीव और ब्रह्म के मिलन का मार्ग अति दुर्गम है। सारी बाधाओं को पार कर उस परम आराध्य से मिलन के चरम गन्तव्य तक जो पहुँच सके, जायसी कहते हैं कि

हम उसी को भक्त कहेंगे—

ओहि मिलान पहुँचे जो कोई। तब हम कहब भक्त अहै सोई॥

यह 'ओहि' (वह) कौन है ? वह है प्रेममार्गी भक्त का परम उपास्य जिससे मिलन के लिए वह विकल है, व्याकुल है। कबीर, मीरा, रैदास, सूर, तुलसी, रसखान, रहीम, ताज, कारेबेग, सालबेग, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस इत्यादि भक्तों-सन्तों का परम प्रिय वही परम सुन्दर, सगुण-साकार एवं निर्गुण-निराकार है जिसकी एक झलक पा ली तो सब कुछ पा लिया।

योगमार्ग के आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन जायसी ने बड़े रोचक रूपक के माध्यम से किया है। सुषुम्ना को उन्होंने सिंहलद्वीप के राज-प्रासाद की पौड़ियाँ (सीढ़ियाँ), कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से सक्रिय होने वाले चक्रों को उन पौड़ियों के द्वार और अव्यक्त महाकाल के व्यक्त विस्फोट—मृत्यु—को राजभवन का घड़ियाल (बड़ा घण्टा) कहा है :

नवों पँवरि पर दसों दुआरू। तेहि पर बाज राज घरियारू॥
घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी॥
जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी-घरी घरियार पुकारा॥
परी सो डांड जगत सब डांडा। का निचिन्त माटी कर भांडा॥

—जीवन की घड़ियों को अपनी-अपनी बारी से घड़ियालियाँ (समयावधि या कालमापक इकाई) गिन रही हैं। समय पूरा होते ही घंटा बजा दिया जायेगा। मिट्टी के भांडे! (मरणशील जीव!) तू निश्चिन्त क्या बैठा है? (जब तक समय है, अव्यक्त का साक्षात्कार क्यों नहीं कर लेता ?)

नवों पौड़ियों को जो पार कर लेता है वह योगी ब्रह्माण्ड में पहुँच जाता है (मुक्त हो जाता है)—

नव पँवरी बाँकी नव खण्डा। नवहुँ जो चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा॥

वहाँ जिस अमृत की प्राप्ति होती है उसके लिए तो राजा भी राज्य त्याग कर भिखारी (संन्यासी) बन जाते हैं—

राजा भये भिखारी, सुनि वह अंब्रित भोग।

इस प्रकार आध्यात्मिक रहस्यविद्या और प्रेममार्गी भक्ति के गायक जायसी का मानस भारतीय संस्कृति की सहज सुरभि से सुवासित था।

' 'खुसरो' चली ससुरारी सजनी.....'

अमीर खुसरो सूफी कवि थे, उनके काव्य में यद्यपि सर्वत्र अध्यात्म मुखर है परन्तु वह प्रेममार्ग है, जिसे मुल्ले-मौलवी पसन्द नहीं करते। इसीलिए सूफी संतों और मुल्लों-काजियों में सदैव विरोध ही देखने में आया है। यही नहीं, चूँकि मौलानाओं और काजियों की पहुँच बादशाहों और उनके दरबारों तक भी थी, इसलिए जब जिस काजी या मुल्ला को अवसर मिला तभी उसने कई सूफी संतों को, यद्यपि वे मुसलमान ही थे, बादशाह से झूठी चुगली करके सूली पर चढ़वा कर मरवा डाला। संत सर्मद और मंसूर ऐसे ही मुसलमान शहीद हो गये हैं जिन्हें मुल्लों ने ही मौत के जबड़ों में धकेल दिया।

हिन्दी के आरंभिक कवि अमीर खुसरो भी सूफी थे। इनके गुरु थे दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी निजामुद्दीन औलिया। ये इतने स्वाभिमानी तथा राज्य-प्रतिग्रह-पराङ्मुख थे कि चाहे अलाउद्दीन खिलजी बादशाह रहा या दिल्ली के तख्त पर कोई और सुलतान, निजामुद्दीन ने कभी उसके दरबार में जाकर मुजरा नहीं बजाया। इसीलिए जब गयासुद्दीन तुगलक तख्त पर बैठा तो उसने निजामुद्दीन से बैर ठानकर बदला देना चाहा। हुक्म दिया कि तुम वह सब दौलत (धन) पेश करो, जो तुम्हें शाह खुसरो ने नजर (भेंट) की थी। पर दौलत वहाँ बची ही कहाँ थी! निजामुद्दीन ने उसे गरीब-मोहताजों में बाँट दिया था। अब वापस कहाँ से करें ? फिर वह कोई बादशाही कर्ज तो था नहीं, बल्कि वह धन उन्हें सम्मानस्वरूप दिया गया था। परिणाम यह कि तुगलक ने फर्मान जारी किया कि जब मैं दिल्ली आ जाऊँ तो तुम वहाँ नजर न आना, उसके पहले ही दिल्ली को छोड़ जाना। यानी शहर बदर कर दिया गया उन्हें। उस समय निजामुद्दीन ने जैसे भविष्य को पढ़ते हुए कह दिया था— तेरे लिए दिल्ली बहुत दूर है : *'हनोज दिल्ली दूरस्त।'*

और सूफी संत की यह वाणी उस समय सत्य सिद्ध हुई जब दिल्ली में प्रवेश के पूर्व ही तुगलक शिविर के नीचे दबकर मर गया। कहते हैं, षड्यंत्र रच कर उसके लिए एक ऐसा ही दरवाजा किंवा शिविर बनाया गया था।

और एक दिन अमीर खुसरो के ये गुरु निजामुद्दीन औलिया जब नहीं रहे तो खुसरो को बहुत आघात पहुँचा। उनके शव को देख कर खुसरो ने कहा था—

'गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥'

गुरु को गोरी और मृत्यु को निद्रा कहना सूफी परम्परा ही है। खुसरो ने परमेश्वर को अपना प्रीतम तथा स्वयं को उसकी प्रेमिका करार दिया है, लिखा है—

'बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, चल तेरे पी ने बुलाई।'

— ''अरी, तू बहुत दिन रह ली पिता के घर, अब तो तेरा बुलावा तेरे पति के यहाँ से आ गया, चल।''

'बिदा करन को कुटुंब सब आये, सिगरे लोग-लुगाई।
चार कहारन डोली उठाई, संग पुरोहित नाई॥
चले ही बनेगी, होत कहा है, नैनन नीर बहाई।
अंत बिदा ले चली है दुलहिन, काहू की कछु न बसाई॥

— ४ कहारों ने जब उस दुल्हन (मृतक) की डोली (अर्थी) उठायी तो उसके साथ सन्त, पुरोहित, नाई भी चले और वह दुल्हन विदा हो चली। अब नैनों से नीर बहाना व्यर्थ है। अब तो चलने से ही बात बनेगी। इसमें किसी का कुछ वश चलने का नहीं।

यहाँ 'संग पुरोहित, नाई' सरीखी शब्दावली विशुद्ध भारतीय किंवा हिन्दु रीति-नीति और संस्कृति से संबद्ध है। खुसरो इसी भारतीयता के कायल और कद्रदान थे।

'बैठत मलमल कपरे पहनाये, केसर तिलक लगाई।
'खुसरो' चली ससुरारी सज्नी, संग नहीं कोई जाई॥'

— फिर उस दुल्हन की विदा वेला में माथे पर केसर का तिलक लगाया गया। सजनी चल पड़ी ससुराल, संगी-साथी कोई नहीं। अकेले ही जाना पड़ता है। यहाँ 'खुसरो' की एक विशेषता द्रष्टव्य है कि वे उस मृतक के भाल पर 'केसर तिलक' लगाने का उल्लेख करना नहीं भूले, जैसे कि उस समय पूरे भारत में हिन्दू ही रहते हों। इस प्रकार खुसरो का मन-मानस हिन्दू संस्कृति-सभ्यता में रचा-बसा हुआ था। मुल्ले-मौलवी इस शब्दावली पर नाक-भौं सिकोड़ते थे।

उनके गुरु अपने प्रिय (परमात्मा) के प्रति इतने प्रेम-पगे थे कि जब उनके सामने कभी अवधी या ब्रजभाषा में रचे हिन्दी भक्ति पद सुनाये या गाये जाते थे तो वे प्रेम-विभोर होकर वहीं नाचने लगते थे। जबकि इस प्रकार नाचना-गाना, ऐसे सूफी भाव के गीतों में रुचि लेना मुल्लों और काजियों को कुपित करता था, वह उनकी शरीयत के खिलाफ बैठता था।

खुसरो के गुरु निजामुद्दीन भी एक महान् सूफी संत के शिष्य थे, नाम था बाबा फरीद शकरगंज। सरहिंद में गुरु गोविन्दसिंह के दो शहीद पुत्रों की नन्हीं समाधियाँ तो हैं ही, साथ ही बाबा फरीद का मजार भी है। गुरु नानक से इनका प्रेम था और 'गुरुग्रंथ साहब' में भी इनके पद दिये गये हैं। उन पदों में पंजाबी के साथ ही आदि कालीन हिन्दी द्रष्टव्य है, यथा—

'फरीदा जे तू मेरा होइ रहहि
सभु जगु तेरा होइ'

फरीद कहते हैं कि 'ऐ प्यारे, यदि तू परमात्मा का हो जाये तो सब संसार तेरा हो जायेगा।' कितनी सहजता है! पाक पत्तन (पंजाब) में इनका निवास था।

ऐसी थी खुसरो की गुरु-परम्परा जो सतत हिन्दी को और हिन्दू जीवन-दर्शन को अपनी जीवन-धारा तथा काव्य-धारा में समाहित किये रही।

रहीम को काबा नहीं, चित्रकूट प्रिय था

व्यथा-वेदना में महती सृजन-शक्ति सन्निहित रहती है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना का लौकिक जीवन बहुत दुःखपूर्ण रहा। जब वे ४ वर्ष के बालक ही थे, उनके पिता बैरम खाँ को गुजरात के सहस्रलिंग सरोवर में नाव पर एक अफगान ने मार डाला। बैरम खाँ तब गुजरात होकर मक्का जा रहे थे।

फिर जब कालांतर में रहीम को अकबर ने 'मीर अर्ज' और 'खानेखाना' के पद और खिताब दिये तो उनका उत्कर्ष भी आया, परन्तु जहांगीर के गद्दी पर बैठने पर रहीम दुर्दिनों से घिर गये। नूरजहाँ की शासन में दखलंदाजी से रहीम का 'खानखाना' (प्रधान सेनापति) पद महावत खाँ को दे डाला गया ताकि महावत खाँ जहांगीर से विद्रोह करने की भावना मन में न लाये। इस समय जहांगीर से रहीम को अत्यधिक पीड़ा, प्रताड़ना, अपमान मिला और वे मानसिंह के साथ आ मिले। रहीम ने तब भी लिखा—

'समय दशा कुल देखिके, सबै करत अपमान।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान॥'

घोर विपत्तिकाल में भी रहीम ने भगवान् को न भुलाया। पत्नी माहबानू मर गयी। बेटी, दामाद और दो बेटे भी मर गये। एक दिन रहीम के तीसरे पुत्र दरियाव खाँ का कटा हुआ सिर जहांगीर के संकेत पर महावत खाँ ने रहीम के पास यह कहलवा कर भेजा कि जनाब के लिए यह तरबूज बतौर भेंट भेज रहा हूँ। रहीम ने थाली के ऊपर से रूमाल हटाया तो देखा, उनके बेटे का कटा हुआ सिर रखा है। एक ठंडी आह भरकर रह गये रहीम! यह वही दरियाव खाँ था जिसने जहांगीर की ओर से दक्षिण की मुस्लिम सल्तनतों के विरुद्ध अनेक युद्ध लड़े और जीते तथा जहांगीर द्वारा पुरस्कृत भी हुआ था। स्वयं रहीम ने जहांगीर के बचपन में उसके संरक्षक की भूमिका निभायी थी। ऐसे उपकारी पिता-पुत्र के प्रति उस मुगल बादशाह ने जैसा व्यवहार किया, तथाकथित 'जहांगीरी न्याय' का इससे अच्छा उदाहरण और क्या मिलेगा! ऐसे भी दिन देखे कवि रहीम ने। और ये वही रहीम थे जिन्हें अकबर ने कभी अपना 'फरजन्द' बेटा करार दिया था, स्वयं ही उनका विवाह कराया था, सेनापति का पद प्रदान किया था।

अकबर रहीम का रिश्ते में मौसेरा भाई था। जहाँ तक संस्कारों की बात है, रहीम की माँ एक ऐसे राजपूत वंश में जन्मी थी जो पहले कभी मेवात के राजा रहे थे। कालक्रम से उनमें से किसी राजा को मुसलमान बनना पड़ा तो आगे वह पूरा वंश मुस्लिम नाम रखने लगा। रहीम के नाना जमाल खाँ मेवाती उसी वंश के थे। यह वही जमाल खाँ था जिसका चचाजात भाई हसन खाँ मेवाती खानवा के प्रसिद्ध युद्ध में राणा संग्राम सिंह की ओर से लड़ने गया था तथा समरांगण में बाबर की फौज से विकट युद्ध किया था। वह शिया था।

इसी हसन खाँ की बड़ी भतीजी हुमायूँ की बेगम थी और उससे छोटी भतीजी बूढ़े बैरम खाँ को ब्याही गयी जिससे रहीम का जन्म हुआ। ब्याह के समय बैरम खाँ ६० वर्ष के लगभग थे। अल्पवयी अकबर के यही अभिभावक थे। मंत्री भी थे। आगे एक बार जब बैरम खाँ अपने पाँच वर्षीय बालक रहीम-को साथ लिये हज करने मक्का जा रहे थे तो गुजरात के मार्ग में पाटन नगर में ठहरे। वहीं सहस्रलिंग-सरोवर में एक नाव में बैठे बैरम खाँ को मुबारक लोहानी नाम के एक पठान ने छुरे से कत्ल कर दिया। कारण, उसका बाप मच्छीवारा की लड़ाई में बैरम खाँ की फौज द्वारा मार दिया गया था। बालक रहीम बड़ी कठिनाई से पाटन में क्रुद्ध पठानों (अफगानों) से बचाकर अहमदाबाद में ही चार मास तक रखा गया। अकबर ने आगे अनाथ रहीम कीं देखरेख की। उसे मिर्जा खाँ का खिताब दिया। 'खानखाना' भी एक उपाधि ही थी।

धरम रहसी, रहसी धरा....

एक बार राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह मेवाड़ का विनाश देखकर विचलित हो उठे क्योंकि उन दिनों अंधाधुंध मंदिर तोड़े जा रहे थे, मेवाड़ की स्त्रियाँ-बच्चे मुगलों द्वारा सरे बाजार नीलाम किये जा रहे थे। खाने को अन्न नहीं, न तन पर वस्त्र। जहांगीर मेवाड़ में पकी खड़ी फसलें जलवा चुका था। ऐसे दुर्दिनों में अमर सिंह ने रहीम को अपना एक पत्र भेजा। कारण, रहीम पर उनका कुछ एहसान (आभार) था। कभी संकटकाल में उन्होंने रहीम के स्त्री-बच्चों की न केवल रक्षा की थी, वरन् उन्हें सुरक्षित रहीम के पास भिजवा भी दिया था। सो, अमरसिंह ने लिखा—

''गोड़ कछाहा राठवड़, गोखा जोख करंत।
कहना खानाखान मैं वनचर हुआ फिरंत॥''

— अर्थात् आज राठौर, कछवाहे और गौड़ राजपूत तो मुगलों के अधीन बनकर प्रासादों के गवाक्षों में सुख-निद्रा ले रहे हैं, किन्तु एक हम हैं जो वन में वनचारी की भाँति रह रहे हैं, यह खानखाना से कह देना।

रहीम ने अमरसिंह के ये उद्‌गार पढ़े तो उन्हें आघात लगा। कारण वे तो हिन्दू संस्कृति से लगाव रखते थे, सहानुभूति। अतः उन्होंने भी तत्काल राजस्थानी में ही अमर सिंह को लिख भेजा कि—

''धरम रहसी, रहसी धरा, खप जासी खुरसाण।
अमर बिशंभर ऊपरा, राखौ नेह्यौ राण॥''

धन्य रहीम! लिखते हैं अमर सिंह को कि ''राणाजी! ये दिन सदा नहीं रहेंगे। एक दिन इस खुरासानी मुगल शासन का नाम-निशान न रह जायेगा। शेष रहेगा धर्म और रहेगी धरती। अतः विश्वम्भर (विश्व-पालक) जो परमात्मा है, उसी पर विश्वास रखो, झुको मत।''

आज तो विश्वास करना भी कठिन है कि मुसलमान होकर कोई मुगलों का इतना बड़ा सेनाधिकारी राणा प्रताप के पुत्र को ऐसा दृढ़निश्चयी पत्र लिख सकता है। पत्र क्या, एक जीवन्त प्रेरणा है, ऊर्जा-पुंज!

रहिमन उतरे पार

यों तो जहांगीर के एक पुत्र शाहजहाँ से रहीम की पोती का ब्याह हुआ था, इस प्रकार वे जहांगीर के भी सम्बन्धी थे, किंतु उससे उन्हें असह्य दुःख और अपमान मिला।

किंवदन्ती तो यह भी है कि रहीम दुर्दिनों के शिकार होकर एक बार भड़भूजे (भुर्जी) के यहाँ भाड़ झौंक रहे थे, तभी उनका कोई परिचित कवि उधर आ निकला। उसने उन्हें इस स्थिति में देखा तो कह उठा—

"सो झौंकत है भार कस, जाके सिर अस भार ?"

— अरे, जिसके सिर पर जहांगीर ने इतनी बड़ी जिम्मेदारी (प्रधान सेनापतित्व) सौंपी है, वह यहाँ यह काम (भाड़ झौंकने का) कैसे कर रहा है ?

तुरंत रहीम ने अपनी प्रकृति के अनुसार उत्तर दिया—

"भार झौंकि सब भार में, रहिमन उतरे पार।"

— अरे भाई! यह कोई रंज की बात नहीं, क्योंकि रहीम तो अब वह सब भार (दायित्व) भार (भाड़) में झौंककर मायाजाल से पार उतर गये।

सो हरि गये न सोय

ऐसे थे रहीम और उनका मानस। तभी तो अपने विषम दिनों में वे जैसे स्वयं को भी ऐसी ही सान्त्वना देते प्रतीत होते हैं—

रन, वन, व्याधि, विपत्ति में, रहिमन परो न रोय।
जो रच्छक जननी जठर, सो हरि गये न सोय॥

— रोते क्यों हो विपदा में ? विश्वास करो, जो हरि गर्भ में भी तुम्हारी रक्षा करते रहे वे आज सो थोड़े ही गये हैं।

और फिर जब उनकी सिपहसालारी छिन भी गयी तो लिखते हैं—

राम नाम जान्यो नहीं, जान्यो सदा उपाधि।
कह रहीम तिहि आपनो, जनम गँवायो बादि॥

— राम-नाम भूलकर जो सदा ऊँचे ओहदों-उपाधियों के ही पीछे दौड़ता रहा, उसने तो अपना जीवन ही व्यर्थ गँवा दिया।

फिर दोहराते हैं—

राम नाम जान्यो नहीं, भइ पूजा में हानि।
कह 'रहीम' क्यों मानि हैं जम के किंकर कानि॥

— अर्थात् राम-नाम की महिमा न जानने के कारण राम को ध्याया नहीं, इससे पूजा की हानि हुई। जब मृत्यु आयेगी तो राम-विमुख के लिए यमदूत भी भला क्यों कोई मर्यादा मानेंगे ? यानी वे उसे नरक में डालने के लिए ही ले जायेंगे।

राम तो राम, 'रहीम' कवि राम की चरणधूलि को भी कितना महत्त्व देते हैं ! एक बार भक्त सूरदास ने रहीम के पास यह प्रश्न भेजा—

"धूरि धरत नित शीश पर, कहु रहीम केहि काज ?" अर्थात् रहीम मियाँ, यह तो बताना कि हाथी जब-तब अपने सिर पर सूँड से धूल क्यों डालता रहता है ? विचित्र प्रश्न किया था सूरदास ने, परन्तु 'रहीम' ने क्या सुन्दर उत्तर लिख भेजा— *"जेहि रज ऋषि पतनी तरी, सो ढूँढत गजराज।"*— अर्थात् हाथी अपने सिर पर जो धूल उड़ेलता रहता है, उसका कारण यह समझ पड़ता है कि हाथी जानता है कि राम की चरण-रज से जब गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का उद्धार हो गया तो वह धूल अब भी कहीं न कहीं तो अवश्य होगी। इसीलिए वह अपने सिर पर धूल उड़ेलता रहता है, इस आशा में कि किसी-न-किसी दिन तो वे रजकण प्राप्त होकर रहेंगे, तब उसका भी उद्धार हो जायेगा।

रे मन भज निसि वासर, श्री बलवीर।
जो बिन जाँचे टारत, जन की पीर॥

भजि मन राम सियापति, रघुकुल ईस।
दीनबन्धु दुःख - टारन, कोसलाधीस।

भजि नरहरि नारायन, तजि बकवाद।
प्रगटि खंभते राख्यो, जिन प्रह्लाद॥

भगवान् राम और विष्णु अवतार नृसिंह की यह आराधना जिन भावों और शब्दों में की गयी है, बिना नाम बताये कौन सोच सकता है कि ये पंक्तियाँ जहांगीर के सिपहसालार और बचपन के अभिभावक या कि संरक्षक अब्दुर्रहीम खानखाना की रची हैं !

फिर भगवान से ही कहते हैं, विपत् निवारण में विलम्ब करके किस विचार में उलझ गये हो ?

वेद पुरान बखानत, अधम उधार।
केहि कारन करुनानिधि, करत बिचार॥

— आप तो सदैव अधमोद्धार करते ही आये हैं, वेद-पुराण साक्षी देते हैं। फिर यह सोच-विचार क्यों ?

यह सरूप निरखै सोइ जानै

जबकि रहीम अरबी, फारसी, तुर्की और उर्दू के खासे आलिम (विद्वान्) थे, वे उसी सहजता से फारसी में भी लिख सकते थे, तो भी 'वाकियात बाबरी' और 'तुजके बाबरी' के फारसी रूपान्तरकार 'रहीम' खानखाना' अपने 'हाल' (दशा) का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

छवि आवन मोहनलाल की।......
आप मोल बिन मोलनि डोलनि बोलनि मदन गोपाल की।
यह सरूप निरखै सोइ जानै, या 'रहीम' के हाल की॥

(जिसने गौएं चराकर वन से श्रीकृष्ण को घर लौटते देखा हो और उनका वह स्वरूप निरखा हो, बोल सुने हों, वही व्यक्ति इस 'रहीम' की हालत समझ सकता है, दूसरा कोई नहीं।)

क्या स्वरूप है वह उन मदन गोपाल का ? रहीम बताते हैं—

काछनि काछे मिलित मुरलि कर, पीत पिछौरी साल की।
बंक तिलक केसर को कीन्हें, दुति मानो विधु बाल की॥

— 'कमर में काछनी (छोटी धोती) है, हाथों में सुन्दर मुरली लिये हैं, पीले रंग की एक शाल 'पिछौरी' की भाँति कंधे पर पड़ी है, माथे पर केसर का टेढ़ा तिलक लगा है जैसे बाल चन्द्रमा द्युतिमान हो।'

यह केवल कविता के लिए कविता नहीं है। लगता है कि जैसे श्रीकृष्ण की दिव्य झाँकी रहीम के मानस-चक्षुओं में बसी है अपनी दिव्यता के साथ।

कृष्ण के बिना वे कैसे तड़पते हैं, देखिए—

''मोहन जीवन प्यारे, कस हित कीन ?
दरसन ही मो तरफत, ये दृग मीन॥''

— जीवन-प्राण मोहन! यह तुम्हारा कैसा स्नेह-दान कि तुम्हारे दर्शन मात्र के लिए ये नेत्र रूपी मछलियाँ तड़प रही हैं।

उन बिन कौन निबाहै, हित की लाज।
ऊधो! तुमहू कहियो, धनि ब्रजराज॥

— उद्धव! तुम तो उनके सखा हो न, तब जब वे मिलेंगे तो तुम्हीं उन्हें स्मरण दिलाकर कह देना कि मेरी लाज उन्हीं के हाथ है। उनके बिना दूसरा कौन है जो निबाहे ? लेकिन उद्धव! तुम उलाहना भी दे देना कि 'धन्य हो ब्रजराज! अपनों को इस प्रकार बिसार देते हो !'

कहा छलत हौ ऊधो! दै परतीति।
सपनेहू नहिं बिसरै, मोहन-मीति॥

— उद्धव! कहना उनसे कि विश्वास देकर यह छल क्या करते हो ? मुझे तो स्वप्न में भी मोहन की मित्रता बिसरती नहीं। उन्हीं का आसरा लगाये बैठा हूँ।

रहीम की ये रचनाएं मात्र कविता नहीं, जीवन्त वार्ता हैं और वे जन-जन की पीड़ा से संपृक्त हैं, रची-बसी हैं। कहाँ तक उनका बखान शक्य है ? इतना स्थान कहाँ ?

प्रथम गणेश-वन्दना, फिर सर्वदेव-स्तुति

'बरवै' में वे हिन्दू कवियों की भाँति ही प्रथम गणेश-वंदना करते हैं—

''बन्दौं विघ्न-विनासन, ऋधि-सिधि-ईस।
निर्मल बुद्धि प्रकासन, सिसु ससि सीस॥''

— विघ्नहारी गणेश सकल ऋद्धियों-सिद्धियों के स्वामी हैं। वे निर्मल बुद्धि का प्रकाश प्रदान करते हैं। चन्द्रशेखर शिव के ऐसे पुत्र की रहीम वन्दना करते हैं।

ऐसी ही श्रद्धा से वे सूर्यनारायण, सविता का भी स्तवन कर रहे हैं—

भजहु चराचर नायक, सूरज देव।
दीन जनन सुखदायक, तारन एव॥

और फिर शंकर-पार्वती से प्रार्थना करते हैं—

ध्यावौं सोच-विमोचन, गिरिजा-ईस।
नागर-भरन त्रिलोचन, सुरसरि सीस॥

और यह न समझें कि रहीम हनुमान जी को भूल ही गये—

ध्यावौं विपद-विदारन, सुवन-समीर।
खल-दानव-वन-जारन, प्रिय रघुवीर॥

— जिनको रघुवीर प्रिय हैं या जो रामप्रिय हैं तथा जो दुष्ट दानवों के वन के दाहक हैं, उन पवन-तनय को मैं ध्याता हूँ।

गुरु-वंदना ठीक तुलसी की भाँति—

पुनि-पुनि बन्दौं गुरु के पद जलजात।
जिहि प्रताप तें मन के तिमिर बिलात॥

— गुरु-चरणारविन्द के प्रताप से ही तो अज्ञान-तिमिर तिरोहित होता है।

ये सब बरवै रहीम ने उस कालखंड में रचे जब वे घोर अर्थाभाव, अपमानों, तिरस्कारों, तीन-तीन पुत्रों एवं पौत्रादि के मरण-शोक से पीड़ित थे, मर्माहत। रहीम से जहांगीर इतना कुपित था कि जब वे दक्षिण से लौटे तो कई दिनों तक जहांगीर ने उनसे मिलना तो दूर, उन्हें दिल्ली नगरी में घुसने देने की भी सख्त मनाही कर दी थी। बरवै लिखने के बाद रहीम ने तुलसीदास को दिखाने के लिए भी भेजे थे।

अपनी विपदा के बीच रहीम को व्रजविहारी के दीनबन्धुत्व का बराबर भरोसा है। कहते हैं, मेरी जीविका यदि दूसरों (खानजहाँ या कि महावत खाँ) के हाथ चली जाये तो फिर हे व्रजविहारी! इसमें तुम्हारी क्या 'साहबी' रही ?

तेरोई कहाय के रहीम कहे दीनबंधु!
अपनी विपत्ति जाय काके द्वार कहिबी ?
जीविका हमारी जो पै औरन के कर डारौ,
ब्रज के बिहारी तो तिहारी कहा साहिबी ?

इन छंदों के मिस रहीम ने जैसे अपनी आत्मकथा किंवा आपबीती ही लिख डाली है। उनका जीवन-वैषम्य, सतत संघर्ष इन छंदों में मुखर है।

किंतु हर स्थिति में 'रहीम' कोसलाधीश, 'विपद विदारन' विनायक, पवनकुमार, मदन गोपाल के पद रचते रहे।

सुन ली भगवान् ने

आखिर भगवान् ने उनकी सुनी, रहीम के दिन बहुरे। जिस महावत खाँ के लिए रहीम को खानखाना पद से हटाया गया था, वही महावत खाँ बागी हो गया और जहांगीर को लेने के देने पड़ गये। यहाँ तक कि एक बार जब जहांगीर दिल्ली से दूर था, महावत खाँ ने वहाँ पर बादशाह को हिरासत में ले लिया था।

जब महावत खाँ का दमन आवश्यक हो गया तो जहांगीर को रहीम की याद आयी। नूरजहाँ ने फिर से रहीम को खानखाना (सेनापति) बनवाने की पेशकश की। वे खानखाना बने तो नूरजहाँ ने रहीम को १२ लाख रुपये भेंट किये, अजमेर की जागीर भी दी, घोड़ों-हाथियों की फौज दी, बड़ा आदर-मान प्रदान किया और उन्हें महावत खाँ के दमन के लिए भेजा। रहीम इस अभियान में विजयी होकर लौटे। महावत खाँ पराजित हुआ।

संस्कृत में भी काव्य-रचना

अंत में रहीम के दो संस्कृत पदों को यहाँ देने का लोभ हम संवरण नहीं कर पा रहे—

अहल्या पाषाण प्रकृति पशुरासीत् कपिचमू,
गुहोऽभूच्चाण्डालस्त्रयमपि नीतं निज पदम्।
अहं चित्तेनाश्मः पशुरपि तवार्चादिकरणे,
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर नमामुद्धरसि किम्॥

— अहल्या तो पत्थर ही थी, कपि-सेना पशु और गुह चाण्डाल, फिर भी इन सभी को हे श्रीराम! आपने अपनाया, पग-तल में प्रश्रय प्रदान किया। और देखिये, मेरा हृदय भी पत्थर ही है। उपासना के स्तर पर मैं निरा पशु (जंगली) हूँ और मेरा कर्म चाण्डालों जैसा ही है। फिर आप मेरा उद्धार अभी तक क्यों नहीं कर रहे ? राम के समक्ष स्वयं को पशु, पत्थर और चाण्डाल सिद्ध करने का विनय रहीम आचरित कर सके। इसे कितने दम्भी और अहम्मन्यता में चूर हिन्दू विद्वान् आत्मसात् कर सके हैं ?

दूसरा संस्कृत पद भी रहीम का विलक्षण है—

रत्नाकरोऽस्ति सदनं, गृहिणी च पद्मा,
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतं मनसश्च तुभ्यं,
दत्तं मया निजमनस्तदिदं ग्रहाण॥

— हे वासुदेव! रत्नाकर समुद्र आपका सदन (घर) है और प्रत्यक्ष पद्मा (लक्ष्मी जी) आपकी गृहिणी। अत: हे जगदीश्वर! अब और आपको कमी ही क्या है जो कोई दे सके! तथापि राधारानी ने आपका मन-हरण कर रखा है जो अब आपके पास नहीं रह गया। इसलिए यह रहीम अपना मन ही आपको समर्पित कर रहा है, इसे स्वीकारियेगा।

हरि-कथा तो अनन्त है और रहीम सरीखे उनके भक्तों की कहानी भी अकथनीय।

रहीम ने जीवित रहते ही अपने लिए एक मकबरा दिल्ली में हुमायूँ के मकबरे के निकट बनवा रखा था, मरणोपरांत सन् १६२७ में वहीं उन्हें दफन किया गया।

काबा नहीं, चित्रकूट

इस्लाम मत को मानने के बावजूद और कितने ऐसे जीव हैं जो रहीम की भाँति विश्वासपूर्वक यह कह सकेंगे—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेश।
जापर विपदा परति है, सो आवत यहि देस॥

—अर्थात् श्रीरामचन्द्र की भाँति जिस पर भी विपत्ति पड़ती है, वह चित्रकूट ही आता है।

यह भावना आज देश के बुद्धिजीवी मुसलमानों में दुर्लभ है। उन्हें अरब आदि देशों की इबादतगाहें भले ही याद आयें, पर चित्रकूट, अयोध्या, वृन्दावन, काशी, जगन्नाथपुरी, बद्रीनाथ कभी भी याद नहीं आते। किसी को आयें तो मुसलमान इसे कुफ्र करार देंगे। इस संदर्भ में रहीम की उक्त भावना इस देश के मूल राष्ट्र-प्रवाह, संस्कृति और परंपरा से कितनी ओत-प्रोत है, कितनी जुड़ी हुई, क्या यह आज भी प्रेरक नहीं ? इस्लाम मानने के बाद भी हम राम-कृष्ण को याद करें, चित्रकूट, वृन्दावन, जगन्नाथपुरी, अयोध्या को आदर-मान दें, यही शिक्षा हमें रहीम के काव्य और जीवनादर्शों से प्राप्त होती है। रहीम के लिए यही देश पुण्यतम और पवित्र था— उनका काव्य साक्षी है। दुर्दिनों में जब जहांगीर ने उन्हें सताया तो विपन्न अवस्था में रहीम स्वयं कुछ काल तक चित्रकूट में जाकर रहे थे।

रामभक्त फकीर — शेख भीखन

काकोरी (जिला लखनऊ, उत्तरप्रदेश) के शेख भीखन (या भीषन) ने अपने हिन्दी में लिखे भक्ति-काव्य में राम-नाम के प्रति अगाध प्रेम और श्रद्धा व्यक्त की है तथा 'श्रीहरि' और 'गुरुचरणों' में असीम भक्ति जतायी है; यहाँ तक कि भीखन जी के ऐसे ही भक्तिमय दो हिन्दी पद सिख गुरु अर्जुनदेव जी ने 'आदि ग्रन्थ' में भी दिये हैं। उन दोनों पदों में भी श्रीराम, श्री हरि और गुरु का महात्म्य मुखर है। और हिन्दी को तो वे अपनी भाषा ही समझते थे। स्पष्ट ही एक मुसलमान सूफी सन्त का हिन्दी भाषा और हिन्दू धर्म-दर्शन के प्रति यह प्रेम एकात्मता का ही ज्वलन्त साक्षी है, परन्तु भीखन जी के इन्हीं हिन्दी पदों को लेकर जहाँ मि. मेकालिफ सरीखे विदेशी लेखकों ने सन्त भीखन को कबीरदास का मतानुयायी अनुमानित किया है, वहीं भारतीय लेखकों ने शंका व्यक्त की है कि मुसलमान होकर कोई सूफी साधु श्रीराम, श्रीहरि, और गुरु की भक्ति पर इतना बल कैसे दे सकता था ? किन्तु इस संदर्भ में हमें हिन्दी के ही कवि रहीम खानखाना, रसखान पठान, ताज और मलिक मुहम्मद जायसी की रचनाओं को ध्यान में रखना होगा। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं और हिन्दू धर्म-दर्शन को अपने मत और विश्वासों का आधार बनाया; राम, कृष्ण, शिव, गंगा तथा हिन्दू तीर्थों के प्रति प्रेम और श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की अपनी रचनाओं में।

अल बदायूनी और मेकालिफ साहब ने सूफी संत भीखन पर लिखा है और अल बदायूनी ने तो यह भी लिखा है कि "मैं स्वयं भी किन्हीं मुहम्मद हुसैन खाँ के साथ जाकर उनकी सहायता से काकोरी में भीखन जी से मिला था।....... मैं सूफी भीखन साहब की खिदमत में जिन दिनों पेश हुआ था वह समय था रमजान का, जब रोजे रखे जाते हैं, और उस दिन मैंने सूफी साहब को एक आदमी को यह हिदायत करते सुना कि 'तुम्हें रूहानी किताबें पढ़नी चाहिए।' ये सूफी फकीर पूरा कुरान शरीफ हिब्ज (कण्ठस्थ) किये हुए थे और जो उसके सात प्रकार के पारायण हैं उनमें भी वे माहिर थे। वे कहते थे कि उनके गुरु की गद्दी मीर सैयद इब्राहीम से सम्बन्ध रखती है। ये सैयद इब्राहीम इरीज के थे। एक बार जब मुजफ्फर खाँ ने बादशाह अकबर के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया तो वह भी काकोरी आकर शेख भीखन से मिला और न केवल अपनी बगावत के लिए शेख की दुआ माँगी बल्कि उसने अपना डेरा ही सूफी भीखन के स्थान के समीप रखा ताकि आवश्यकता पड़ने पर शेख साहब की बन्दगी कर सके और अपनी सफलता के लिए उनसे विनती कर सके।"

अल बदायूनी का यह वक्तव्य सिद्ध करता है कि उस काल में शेख भीखन का नाम दिल्ली-आगरे तक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था और शक्तिशाली सामन्त भी उनकी कृपा-दृष्टि की याचना करते थे। अल बदायूनी स्वयं अकबर की सेना में रह कर हिन्दू शक्तियों के विरुद्ध युद्ध-रत रहा था।

मुस्लिम कवि 'रसलीन' की गंगाभक्ति!

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवि सैय्यद गुलाम नबी 'रसलीन' बिलग्रामी एक युद्ध में पठानों का मुकाबला करते-करते शहीद हुए थे। गुलाम नबी ने न केवल अपना उपनाम ही 'रसलीन' रखा था, वरन् उनका मानस अतीव अंतरंगता से इस देश की संस्कृति-धारा से उत्प्रेरित-प्रभावित था। गंगा जी के प्रति उनकी भावना देखिए। 'रसलीन' गंगाजी को संबोधित करते हुए लिखते हैं—

बिश्नु जू के पग तें निकसि संभु-सीस बसि,
भगीरथ-तप तें कृपा करी जहान पै॥
पतितन तारिबे की रीति तेरी ऐरी गंग!
पाइ 'रसलीन' इन्ह तेरेई प्रमान पै॥
कालिमा कालिन्दी सरसुती अरुनाई दोऊ,
मेटि-मेटि कीनों सेत आपने विधान पै।
त्यों ही तमोगुन रजोगुन सब जगत के
करिके सतोगुन चढ़ावत विमान पै॥

—'हे गंगे! विष्णु जी के चरणों से निकलकर तुम शिवजी के शीश पर रम गयीं, फिर भगीरथ के तप से प्रसन्न होकर तुमने संसार पर कृपा की— नीचे अवतरण किया।

हे गंगे! पापियों को तारने की तेरी निराली रीति का रसलीन ने यह प्रमाण पाया कि कलियुग में कालिन्दी (श्यामवर्णा) यमुना और अरुणवर्णा सरस्वती दोनों को ही तुमने अपने ही विधान, अपने ही श्वेत रंग में एकरूप कर लिया, विलीन कर लिया— ठीक उसी प्रकार संसार भर के तमोगुण और रजोगुण को सत्त्वगुण में बदलकर सभी तमोगुणी-रजोगुणी पापियों को भी अपने विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग पहुँचा देती हो।'

कितनी उच्चकोटि की भाव-धारा को तरंगित किया है 'रसलीन' ने अपने इस छन्द में! एक मुसलमान कवि की यह गंगा-भक्ति, और उसकी पतितोद्धारक शक्ति के प्रति ऐसी अनुरक्ति कितने हिन्दुओं में मिलेगी ? भारत में तो आजकल अंग्रेजी पाठ्यक्रम में भारतीय छात्र गंगाजी का विकृत अंग्रेजी रूप 'गैंजेज' ही पढ़ते रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे राम को 'रामा', लक्ष्मण को 'लक्ष्मणा'।

इस परिप्रेक्ष्य में 'रसलीन' जैसे कवियों के काव्य का मूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

एक खून, एक बन्दगी

इस्लाम मतानुयायी होकर हिन्दू धर्मग्रंथों के अध्ययनकर्ताओं तथा उनके पृष्ठों में अपने जीवन की सच्ची शांति खोजने वालों में दारा शिकोह का नाम दीप्तिमान है। वह बादशाह शाहजहाँ का लाड़ला पुत्र था तथा शाहजहाँ उसी को गद्दी देना चाहता था, परंतु बीच में न केवल बाधक बन गया दारा का भाई औरगंजेब वरन् उसने दारा को बन्दी बना कर, जब कि वह अभागा सब्जी काट रहा था, कत्ल भी करा दिया और उसके शव का भी सरे-आम सड़कों पर बड़ा अपमान किया।

दारा शिकोह सूफी मत को मानता था तथा हिंदू धर्म के प्रति उसका लगाव इतिहास में प्रसिद्ध है। दारा जिस समय शाहजहाँ द्वारा नियुक्त इलाहाबाद का सूबेदार था (काशी भी तब उसके क्षेत्र के अंतर्गत था) उन दिनों उसने उपनिषदों का गहरा अध्ययन किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सूफी मत और हिन्दू धर्म में केवल शब्दों का ही अंतर है— शायद सूफी मत हिन्दू धर्म से ही प्रणीत है। दारा ने लिखा है कि "मुझे उपनिषदों के दर्शन तत्त्व से जीवन में अपूर्व शांति प्राप्त हुई है।" उसका यह सत्साहस ही था।

दारा आंभ में इतनी संस्कृत तो जानता न था, इसलिए उसने काशी में चुन-चुन कर संस्कृत के विद्वान् पंडित एकत्र किये। यह बात सन् १६५६ की है। फिर उन पंडितों तथा संतों की सहायता प्राप्त करते हुए दारा ने स्वयं ही उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में किया और उस अनुवाद-ग्रंथ का नाम रखा— 'सिर्रे अकबर' या 'सिर्र-उल-असरार।' फारसी ग्रंथ की भूमिका में दारा ने पंडितों व संतों की उक्त सहायता लेने तथा अपनी कलम से उपनिषदों का अनुवाद करने की बात लिखी भी है।

फिर दो वर्ष बाद दारा ने एक और ग्रंथ फारसी में लिखा, जिसका नाम है— 'मजमूअउल-बहरैन'। इसमें दारा ने सूफी मत तथा हिन्दू धर्म का समन्वय दिखाया है तथा अपने स्वयं के सूफी होने की बात लिखी है। काशी के स्वामी रामानंद में उसकी श्रद्धा थी।

जरनल गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट के सन् १९४४ के फरवरी अंक में लिखा है कि दारा शिकोह ने एक और संस्कृत ग्रंथ का फारसी में अनुवाद किया था जिसका नाथ था 'षट्भूमिक'। दारा हिन्दू साधु-संत-संन्यासियों से सत्संग करने में बड़ी रुचि रखता था और उनके संपर्क में वह वेदान्त आत्मसात् करने की चेष्टा करता था। मुगल शहजादों में ऐसे विलक्षण संस्कार अकेले दारा शिकोह को ही प्राप्त हो सके थे। दारा ने कबीरदास के गुरु रामानंद को 'विविध विद्या चमत्कार पारंगत' नाम की उपाधि सम्मान में प्रदान की थी।

दारा उपनिषदों के अनुवाद-कार्य में कश्मीर में भी बहुत दिनों तक भटकता फिरा। कश्मीरी पंडितों की भी उसने संगति की तथा संस्कृत के अनुवाद-कार्य में उन्हें भी अपने

साथ प्रवृत्त किया। ५० उपनिषद् उसने पंडितों से पढ़वाकर सुने, समझे तथा 'सिर्र-उल - -असरार' में उन्हें फारसी भाषा में संजोया-सँवारा। एक मुसलमान जिज्ञासु के लिए यह एक क्लिष्ट कर्म था और शुष्कप्राय भी, परंतु जहाँ लगाव होता है, निष्ठा होती है, वह कठिन कार्य भी साध्य हो ही जाता है।

वाराणसी तथा प्रयाग तीर्थों के हिन्दू यात्रियों पर जो यात्री-कर लागू था, जिसके कारण हिन्दू साधु-संत-विद्वान् एवं तीर्थ-यात्री अतीव व्यथित थे, कष्ट पाते थे, यह एक सच्चाई है कि काशी के एक प्रसिद्ध विद्वान् कवीन्द्राचार्य दारा शिकोह की सहायता से उस कर को शाहजहाँ द्वारा हटवाने में सफल रहे। इस का श्रेय दारा शिकोह को ही है। शाही कारकुन उस कर को 'जकात' कहते-लिखते थे। अनन्तर जब दारा को औरंगजेब ने मरवा डाला और स्वयं शासक बना तो काशी, प्रयाग पर फिर से 'जकात' (तीर्थयात्री-कर) थोप दिया तथा दमनात्मक फरमान जारी करके काशी की संस्कृत पाठशालाएं बंद कर दीं और विश्वनाथ व विन्दु माधव आदि प्रसिद्ध मंदिर तुड़वा कर उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कर दीं। इस संदर्भ में दारा शिकोह और औरंगजेब दोनों यद्यपि एक ही पिता (शाहजहाँ) की संतान थे, फिर भी उनमें धरती-आकाश जैसा अंतर था। एक यदि हिन्दू धर्म के वेदान्त मे रुचि रखता था तो दूसरा 'काफिरों की किताबें व बुतखाने' मिटाने में खुद को इस्लाम का खादिम समझता था। कबीर ने ऐसी ही स्थिति को लक्ष्य करके कहा है—

''दिन में रोजा रखत हैं, रात हनत हैं गाय।
एक खून, एक बन्दगी, कैसे खुशी खुदाय॥''

— दिन भर रोजेदारी करते हैं परन्तु रात में गाय काटते हैं। हत्या भी करो, दिलाजारी (पर-पीड़न) भी करो और खुदा की बन्दगी (उपासना) भी करो तो इससे खुदा कैसे खुश (प्रसन्न) हो सकता है ? गाय काट कर खुदा को खुश नहीं किया जा सकता। सूफी शहजादे दारा शिकोह भी जीवन-दर्शन में कबीर के समानधर्मी थे।

इस्लाम से तौबा! मैं तो राम का मुरीद हूँ

जनाब जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर अपनी मस्ती में बैठे थे, लेकिन अन्दर जाकर नमाज पढ़ने का उनका कोई इरादा नजर नहीं आ रहा था, अत: किसी नमाजी ने प्रश्न किया—

''सरमद साहब! आप भी नमाजियों में शिरकत फरमायें।''

सर्मद अपने स्थान से नहीं हिले।

किसी ने कहा— ''सरमद! तुम रोजा नमाज के पाबन्द नहीं, काफिर हो, बुत-परस्त हो और तुम्हारा कोई दीन-ईमान नहीं।''

आप बोले— ''जी हाँ, बेशक बुतपरस्त हूँ, काफिर भी कह लो और यह भी यकीन कर ही लो कि मेरा तुम्हारे सरीखे ईमान वालों से कोई वास्ता नहीं, सरोकार नहीं।

बुत परस्तम् काफिरम् अज अहले ईमानेस्तम्''।

मुल्लों ने फतवा दिया— ''सरमद! तुम जो भी हो, लेकिन खुदाबन्द करीम की इबादत की पाबन्दी तो तुम्हें रखनी ही चाहिए। तुम तो नाशुक्री करते हो। यह क्या अल्लाह ताला की शान में गुस्ताखी नहीं हुई ?''

आपने उसी मस्ती से कहा—

''गुस्ताखी की क्या बात ? खुदा अगर्चे वफादार होगा तो खुद सर्मद के पास दौड़ा आयेगा। भला वह खुदा भी क्या जो खुद न आये!''

ऐसे फक्कड़ थे सूफी सन्त सर्मद।

औरंगजेब से टकराया रामभक्त संत

फकीरी वेश रखे, लेकिन मस्जिद में जाकर नमाज न अदा करे— इसे मुगलकाल की इस्लामी हुकूमत कैसे सहन कर सकती थी!

हुआ यह कि औरंगजेब से मुल्लों ने शिकायत की कि ''सरमद है तो एक मुसलमान फकीर, उसे पाँचों वक्त की नमाज अदा करनी चाहिए और रमजान में रोजेदारी भी। लेकिन वह गुनहगार नमाज तो पढ़ने जाता नहीं, उल्टे बहस करता है।''

फलत: औरंगजेब ने सर्मद साहब को सिपाही भेजकर बुलवाया।

इमाम ने नमाज पढ़नी आरंभ ही की थी। अभी उसने केवल 'अल्लाह' का उच्चारण ही किया था कि सर्मद ने उसे पुकार कर कहा— ''अरे इमाम! तू 'अल्ला-अल्ला' बेकार ही कर रहा है। मैं देख रहा हूँ कि तेरा अल्लाह तो तेरे तलवों के नीचे दबा है।'' सर्मद ने विचित्र शब्द कहे और यह जा, वह जा। आप बिना नमाज पढ़े ही जामा मस्जिद से चलते बने।

जंजीरों से जकड़े संत सर्मद निर्भय मुद्रा में औरंगजेब के सामने खड़े थे। सर्मद पर आरोप था इस्लाम की तौहीन करने का। काजियों और मुल्ले-मौलवियों ने सर्मद पर आरोप लगाया था कि वह कुफ्र बकता है, मुकम्मिल कलमा नहीं पढ़ता, नंगा रहता है, नमाज भी अदा नहीं करता। ऐसा व्यक्ति आलमगीर की हुकूमत में जीवित था, अभी तक लोगों को यही आश्चर्य था। सर्मद सरेआम दिल्ली की सड़कों पर गलियों में घूमते थे। दीवानगी ही प्रकट होती थी उनके आचरण से। जो अपने आपे में नहीं, वह नियमों से बँधे रहना क्यों आवश्यक समझने लगा! जहाँ भूख लगी, एक ओर बैठ कर जो मिला खा लिया। जहाँ नींद आने लगी और स्थान मिला, एक कोने में पड़ कर सो लिया। न ओढ़ने-बिछाने का झंझट, न जाड़े-गर्मी की चिन्ता। कभी-कभी 'सीता-राम' पर अपने फारसी कलाम गुनगुनाते। उसमें वे 'लछमन जी' को भी याद करना न भूलते। कहते— 'सर्मद! राम-लक्ष्मण का मुरीद क्यों हो गया ? रसूलिल्लाह में क्या खामी देखी ?'

"आखिर ये खता दीदीं अल्लाहो रसूल।
सरगफ़्ता मुरीद लछमनो राम शुदी॥"

यद्यपि ये प्रश्न सर्मद स्वयं से करते थे, लेकिन अपराधरूप में इन बातों की शिकायत मुल्लों ने औरंगजेब से कर दी। उसकी गद्दीनशीनी की सालगिरह मनने वाली थी। औरंगजेब ने सर्मद का नाम सुना तो प्रसन्न हो गया। कारण, सर्मद उसकी भी आँखों में तब से खटक रहे थे जबकि वह बादशाह भी न बना था और विद्रोह करके अपने बाप शाहजहाँ तथा भाइयों दारा, मुराद आदि से लड़ रहा था। उन दिनों उसने सुना कि सर्मद भी दारा शिकोह के पक्ष में है।

सर्मद को पता चला कि मोहम्मद दारा शिकोह यद्यपि औरंगेजेब का बड़ा भाई है, लेकिन बड़े पक्के तौर पर वेदान्त दर्शन के रंग में रंगा हुआ है। उपनिषदों का वह महान् प्रेमी है। उनको वह फारसी में रूपान्तरित कर रहा है। इसलिए सर्मद उससे वैचारिक ऐक्य हो जाने के कारण लगाव रखने लगे। वह निःस्वार्थ सम्बन्ध था। दारा भी सर्मद को मानता था।

आगे जब दारा उन्हें मिला तो कहा— "सरमद साहब! मेरी आकबत (भविष्य) के बाबत कुछ बताइये।" सर्मद ने कह दिया— "क्या कहूँ तेरे लिए मैं! फिर भी मुझे यकीन है कि तुझे एक ऐसी सल्तनत मिलेगी, जो बड़े-बड़े शहंशाहों को भी मयस्सर नहीं होती।"

और गुप्तचरों ने यह समाचार औरंगजेब को दे दिया। फलतः औरंगजेब बिना पूरी बात समझे, सर्मद को अपना शत्रु मानने लगा। किंतु उस समय उनको सजा दे पाना उसके अधिकार की बात न थी। जब औरगंजेब गद्दीनशीन हुआ, तो उसने निश्चय किया कि 'किसी मौके पर सरमद को भी जरूर सजा दूंगा'। और वह अवसर अनायास उसके हाथ आ गया।

जब सर्मद को बन्दी बना कर औरंगजेब के सामने पेश किया गया तो औरंगजेब ने उनसे प्रश्न किया— "क्यों! तुझे याद है, तूने दारा शिकोह को क्या दुआ दी थी ?"

"जरूर याद है! मैंने कहा था— 'तुझे दुनिया से कहीं ज्यादा बेशकीमती सल्तनत हासिल होगी' और मैंने खुद भी देखा कि वह उसे नसीब हुई।" सर्मद का अभिप्राय आध्यात्मिक साम्राज्य या उपलब्धि से था और वह सही हुआ। दारा अमर हो गया उपनिषदों में जीवन खपा कर, 'सिर्रे अकबर' लिखकर।

तो वास्तविक बात या विशेष कारण तो था शत्रुता की भावना, लेकिन औरंगजेब ने बहाना पकड़ा दूसरे आरोप मढ़े जाने का। पूछा— "तू नमाज क्यों नहीं पढ़ता ? नंगा क्यों रहता है ? पूरा कलमा क्यों नहीं पढ़ता है ?"

सर्मद ने उत्तर दिया— "सब देन उसी की है; किसी को बादशाहत बख्शी, तो मेरे जैसे लोगों को मुसीबतें। जिनमें बुराइयाँ थीं, उन्हें ढकने के लिए पोशाकें बख्शीं; मुझे ऐसा नहीं समझा, तो यूँ ही रहने दिया।" फिर सर्मद ने निर्भीक होकर कहा— "मैं पूरा कलमा कैसे पढ़ूँ जबकि अभी तक जामे-वहदत भी न पाया! अभी जब रास्ते में हूँ, तो दावे के साथ कैसे कहूँ कि खुदा ही सिर्फ काबिले इबादत है ?"

औरंगजेब ने आपे से बाहर होकर पूछा— "तुमने नमाज की तौहीन करने की जुर्रत कैसे की ? क्या तुम्हें पता नहीं कि बमूजिब शरीयत इसकी सजा सिर्फ मौत ही हो सकती है ? फिर तुमने इमाम को भी बेइज्जत करने की गुस्ताखी की और अल्लाह ताला की भी कम तौहीन नहीं की।"

सर्मद ने कहा— "मेरा तुम कुछ भी कर सकते हो, मैं मरने से नहीं डरता। तू क्या, कोई भी मुझे मार नहीं सकता। अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) ! अनलहक ! मुझे मारने की, खत्म करने की ताकत किसी में नहीं है। मरता वह है जो 'अनलहक' का राज नहीं समझता, नहीं बरतता उसके मुताबिक।"

औरंगजेब और अधिक क्रुद्ध हो उठा, क्योंकि वह 'अनलहक' जैसे शब्दावली या वेदान्त-वाक्य से बहुत ही द्वेष करता था। कुफ्र था वह उसकी दृष्टि में। अत: वह तड़प उठा— "क्या कुफ्र बकते हो! मुसलमान होकर कुफ्र कबूलते हो ? मस्जिद में नमाज पढ़ने से भागते हो। तुम्हारी फकीरी को लानत!"

सर्मद ने उसे और चिढ़ाया। कहा— "बेशक मैं काफिर हूँ, मुसलमान नहीं हूँ। क्या हुआ कि तेरे साथ जामा मस्जिद चला गया।

"सूये मस्जिद मी रवम्।
अम्मा मुसलमां नेस्तम्॥"

और सुन—

"पंज: दर पंज: मी खुदा दारम्।
मन चि: परवा मुस्तफा दारम्।"

— मैं तो प्रत्यक्ष खुदा से पंजा मिलाता हूँ। मैं तेरे पैगम्बर मुहम्मद की परवाह नहीं करता।

और सुन ले मैं क्या हूँ। ''मुरीद लछमनो रामशुदी''— मैं मुरीद हूँ राम-लक्ष्मण का।

औरंगजेब ने हुक्म दिया— ''इसे हटाओ मेरे सामने से और कल अलस्सुबह आफताब (सूर्य) निकलने के पेश्तर इसे कत्ल कर देना।''

सर्मद को जब जल्लाद ले जाने लगे तो वे कह उठे— ''औरंगजेब! तेरी सजा का मैं शुक्रिया अदा करता हूँ, क्योंकि कल मैं अपने प्यारे दिलवर के गले जा मिलूंगा। यह जिस्मानी पर्दा कल हट जायेगा। इसलिए मुझे अजहद खुशी है, लेकिन इम्तहान लेकर देख कि जो मैंने इमाम के मुतल्लिक कहा वह हर्फ-ब-हर्फ सच है।''

औरंगजेब बिना उनकी ओर देखे मुँह फेरकर चला गया। किंतु इमाम के हृदय में सर्मद की बात जैसे चुभ गयी। कारण यह कि जब वह नमाज शुरू कर रहा था तो ठीक उसी क्षण उसके मन में यह बात तैर गयी कि काश! कहीं ज्यादा दौलत मिलती तो बेटी की सगाई कर देता। तो क्या सर्मद की तानाकशी में कोई रहस्य तो नहीं छिपा है ? आखिर फकीर तो फकीर ही ठहरा। इनकी रूहानी शक्ति की क्या सीमा!''

और वह रातोंरात कैदखाने में जाकर सर्मद से मिला। पूछा— ''जनाब ने जो कल मेरे बारे में फरमाया, उसका क्या राज़ है जरा वह भी तो फरमाइये खुदा के वास्ते।''

सर्मद ने लापरवाही से कहा— ''जा-जा, फकीर के मुँह मत लगा कर। जो कहा, वह सच है। आजमाकर देख। जा, तुझे जर चाहिए न ? जा, जिस जगह खड़े होकर तू नमाज शुरू करा रहा था वहाँ की जमीन खुदवा डाल। तेरी मुराद पूरी होगी और उससे तो यह भी साबित हो जायेगा कि तेरा अल्लाह तेरे तलुवों के नीचे ही दबा था या नहीं।''

अब तो इमाम और भी हैरत में था कि कहीं इसी की बात सच निकली तो उल्टे मुझे ही बादशाह सजा न दे दे। अतः उसने छिपाकर स्वयं ही रात में जामा मस्जिद में वह स्थान कुदाल से खोदना आरंभ किया। खोदते-खोदते क्या देखा कि एक देग गड़ी है धरती में। उसका ढक्कन हटाया तो इमाम की आँखें चौंधिया गयीं। देग सोने के सिक्कों से भरी थी। यही कुछ तो दरकार था उसे। बड़ा प्रसन्न हुआ कि बिना कुछ किये-धरे वह मालामाल हो गया। लेकिन फिर उसे ठेस भी लगी कि सर्मद के सखुन सच थे। फिर भी उन्हें सबेरे बादशाह के हुक्म के अनुसार कत्ल कर दिया जायेगा। या अल्लाह! क्या इसका गुनाह मेरे सिर न जायेगा ? दरअसल खतावार और अल्लाह के सामने उसकी इबादतगाह में गुनहगार तो मैं हूँ कि ऐन नमाज के वक्त मैं सोना मिलने की चाह कर रहा था और सर्मद ऐसा औलिया कि न सिर्फ उसने मेरा दिल पढ़ लिया बल्कि बिना देखे जमींदोज खजाना भी बता दिया। अस्तु, खजाना तो वह घर ले आया कि उससे शादी वगैरह हो जायेगी, लेकिन उसे स्वयं पर इतनी ग्लानि हुई कि प्रातः जब सर्मद को कत्ल किया जा रहा था, इमाम सदा के लिए गृह त्याग कर फकीरी अपना चुका था।

सर्मद सदैव 'ला इलाह' तक ही उच्चारण करके चुप हो जाते थे। 'ला इलाह-इल-लिल्लाह' नहीं कहते थे। यह बात लिखी है उन दिनों के एक लेखक इब्राहीम बदख्शानी ने। उसने लिखा है कि सर्मद का कत्ल किया जाना उस दिन जुमे की नमाज के बाद दिल्ली की जामा मस्जिद के मशरिकी दरवाजे पर "मैंने अपनी आँखों से देखा था। उसके एक दिन पहले जुमेरात (गुरुवार) को बादशाह की तरफ से ऐलान किया गया था कि "खलक खुदा का, मुल्क बादशाह का हर खासो-आम को इत्तिला हो कि कल जुमे की नमाज के बाद जामा मस्जिद पर गुनहगार सरमद को कुफ्र फैलाने के जुर्म में कत्ल किया जायेगा और जो भी शख्स उसका हमख्यालात, हमनिवाला, हमजात, हमप्याला शुमार किया जायेगा, उसे भी सरमद की मानिन्द सजाये मौत दी जायेगी।"

उस दिन शुक्रवार था। दिल्ली की जामा मस्जिद में नमाज अदा हो रही थी। शाही इमाम उसकी तैयारी में व्यस्त। नमाजियों का तांता लगा था। हर मुसलमान नहा-धोकर, साफ-सुथरे कपड़ों में जामा मस्जिद की ओर जाता दिखाई देता था। उसी समय शाही इमाम ने नायब इमाम से पूछा— "दरवाजा-ए-मशरिकी पर कोई कैदी आया ?"

उसने कहा— "अभी तो नहीं।" वह कैदी थे राम-भक्त सर्मद, जिन्हें औरंगजेब की हुकूमत में सजाये मौत दी गयी थी।

और सर्मद के जीवन में वह दिन आ गया था। नमाजियों ने नमाज अदा कर ली थी। एकाएक नायब इमाम ने आकर शाही इमाम से कहा कि "कैदी सरमद मस्जिद के मशरिकी दरवाजे पर हाजिर है।"

तत्काल उस इबादतगाह (जामा मस्जिद) का वह द्वार और उसका फर्श एक सन्त के खून से नहा गया। सर्मद को हत्या करके वहीं डाल दिया गया। बदख्शानी लिखता है कि अपना कटा हुआ सिर सरमद ने अपने हाथों में थाम लिया था और चंद डग आगे भी बढ़ा था वह कबन्ध, पर यह शायद ही विश्वसनीय हो। जो भी हो, जामा मस्जिद के ही पास उन्हें दफनाया गया। वह मजार अभी भी वहाँ है। सर्मद ने जो कुछ कहा है अपने विचारों को व्यक्त करते हुए, वह फारसी शायरी में है। एक अर्थ में सर्मद अवधूत थे— अलमस्त, अपनी खुदी में डूबे फकीर। उन्हें इस्लाम से जोड़ा नहीं जा सकता। निर्भयता और आत्म-बलिदान की परम्परा उनसे उजागर है, गौरवान्वित है। इतने दमनकारी शासन से सर्मद जैसे कोई विरले ही वज्र-चरण टकराते हैं और वे एक इतिहास बना जाते हैं। काश! आज के कठमुल्ले भी उस जमाने को जुल्मिस्तान करार देते और संत शहीद सर्मद को मजलूम (पीड़ित) कहते।

हिन्दी के दूसरे रसखान — कारे बेग

कृष्णभक्त कारे बेग बुन्देलखण्डी कवि थे। व्यवसाय (पेशा) रंगरेज का था। अपने मुसलमान पिता की भाँति वे भी काम तो कपड़े रंगने का ही करते थे, पर उन का मन श्री राम-कृष्ण-विष्णु की भक्ति के रंग में रंग गया था।

उनका जन्म संवत् १७०० (सन् १६४३ ई.) में वर्तमान उत्तर प्रदेश के झाँसी जनपद के अन्तर्गत ललितपुर में हुआ था। वहाँ एक स्थान है जो बजरिया कहलाता है। वहीं एक पुराने नीम के पेड़ की छाया में कारे बेग कपड़े रंगते जाते थे और साथ-साथ अपने ही बनाये हुए भजन गाते रहते थें। इधर-उधर के कुछ कठमुल्ले मुसलमान इस प्रकार 'बुतपरस्ती' (मूर्तिपूजा) करने पर उनको फटकारते भी थे और कुफ्र छोड़कर नमाज पढ़ने के लिए कहते, परन्तु कारे बेग का अटल विश्वास तो अपने भगवान् पर जम चुका था, इसलिए वे किसी मुल्ले-मौलवी की नहीं सुनते थे। वे बुन्देलखण्ड के सन्त रामदेव के शिष्य थे। अपने गुरु को उन्होंने 'पीर रामदेव' लिखा है।

'उनी क्या नमाज पढ़ी ?'

एक बार कारे बेग की बड़ी कठिन परीक्षा का समय आ पड़ा। उनका जवान पुत्र अचानक बहुत बीमार पड़ गया। बहुतेरे उपचार किये, पर रोग किसी भी हकीम या वैद्य की पकड़ में नहीं आया और कारे बेग का बेटा मर गया। उनके घर में भगवान् कृष्ण की मूर्ति प्रतिष्ठित थी जिसके सामने प्रार्थना करने में वे तल्लीन रहते थे। पुत्र की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने शव उठाया और अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण के सामने रख दिया तथा अपने ही रचे छन्दों में लगे उन्हें आत्म-निवेदन सुनाने। अड़ोस-पड़ोस के चिढ़े-कुढ़े मुसलमानों ने शोक का यह अवसर भी न छोड़ा उन पर ताने कसने के लिए और बोले— ''म्याँ! बहुत कुफ्र गा चुके, अब तो ये गाने-वाने और बुतपरस्ती बन्द करो। आखिर इससे तुम्हें मिला क्या ? कपड़े रंगना तो तुम्हारा छूटा नहीं, न गरीबी गयी घर से, ऊपर से भला-चंगा जवान बेटा भी गँवा दिया! अब भी होश करो, मियाँ कारबेग! मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ो। तौबा करो आइन्दा (भविष्य) के लिए कुफ्र और बुतपरस्ती से। इमाम से, मोअज्जिन से, दुआ पढ़वाओ तो मुमकिन (संभव) है अल्लाह ताला, खुदाबन्द करीम रहमत बख्श दे तुम पर। पैगम्बर हजरत पर यकीन न लाकर जो तुमने बुतपरस्ती की, कुफ्र किया, उसी की सजा खुदा ने तुम्हें दी है। अब भी तौबा कर लो, अल्लाह बड़ा रहीम-करीम है।''

पड़ोसी मुसलमानों का उपदेश (नसीहत) सुनकर कारेबेग ने यह उर्दूमिश्रित छन्द रचकर कृष्ण-प्रतिमा के सामने सुनाया जो श्री रामचन्द्र जी की विभीषण पर कृपा और श्रीकृष्ण-लीला का परिचायक है—

'माफ किया मुलक, मताह दे विभीषण को, कीनी जुबान कुरबान बेकरार की।
बैठन के ताहि तू बखत दे तखत भेजा, दौलत बढ़ाई तू जुनारदार यार की।
उनी क्या नमाज पढ़ी? जब तुमसे राज़ हुआ, खबर करी जब ही जब, चिड़ीमार की।।
बन्दे की बन्दगी विचार, कवि 'कारे' कहैं, बकासुर-विनाशन! क्यों हमारी बेर बार की ?'

— तात्पर्य यह है भक्त कारे बेग का कि हे रामचन्द्र जी! तुमने रावण के भाई विभीषण को पूरा मुल्क (लंका) ही माफी में दे दिया, उसके धन-दौलत में वृद्धि की। उस विभीषण ने क्या नमाज पढ़ी थी (जो ये लोग इस संकट की घड़ी में मुझसे मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ने को कह रहे हैं) ? जब भक्तों ने तुमसे नाता जोड़कर अपना सब राज़ (रहस्य) तुम्हें सुना दिया तो तुमने व्याध जैसों पर भी तुरन्त कृपा की, उनके सब दुःख दूर कर दिये, बस तुम्हें खबर (सूचित) करने भर की देर थी। इसीलिए हे बकासुर का विनाश करने वाले भगवान् कृष्ण! कवि कारे बेग कहता है कि इस बन्दे (सेवक) की बन्दगी का विचार करो। तुमने मेरी बारी आने पर क्यों इतनी देर कर दी ?

इस छन्द से प्रकट है कि उन दिनों की उर्दू का भी कारे बेग को पूरा अभ्यास था यद्यपि वे कविता प्राय: हिन्दी में करते थे।

मृत पुत्र का शव लिये कारे बेग भगवान् के आगे, एक के बाद एक, पूरे सौ छंद गाकर निवेदन करते रहे, किन्तु बेटे का मृत शरीर न हिला न डुला। कारे बेग को छोड़कर वहाँ और किसी को विश्वास नहीं था कि इस प्रकार वह मुर्दा अब फिर से जिन्दा होगा। लोग कारे बेग को पागल समझ रहे थे। किन्तु कारे बेग को पक्का विश्वास था कि मेरे पुत्र को पुनर्जीवन देना श्रीकृष्ण के लिए साधारण सी बात है, वे भला मुझ पर इतनी कृपा क्यों नहीं करेंगे ? शत-पदी पूरी होने पर भी जब संकट दूर नहीं हुआ तो उन्होंने आठ नये पद रचकर सुनाये। कहते हैं कि जैसे ही १०८ वें छन्द की अन्तिम पंक्ति पूरी हुई, वैसे ही शव हिला, उसमें प्राणों का संचार हुआ और कारे बेग का वह देर से मरा पड़ा पुत्र ऐसे उठ बैठा मानो अभी तक सोया हुआ हो। उसकी देह में रोग का कोई लक्षण शेष न रहा। देखने वाले चकित-स्तम्भित रह गये। तानाकसी करने वालों की बोलती बन्द।

एक ही आश्रय

कारे बेग लगभग शतंजीवी हुए। संवत् १७९४-९५ तक उनके जीवित रहने का पता चलता है। अपने सुदीर्घ जीवन में उन्होंने सदैव भगवान् कृष्ण (विष्णु) का ही आश्रय लिया। उनका कहना था—

तुम ही सहाय मेरे, और नहीं दूजा प्रभु!
रहे कार सार बलि जाऊँ अवतार की।

एहो रनधीर, बलभद्र जी के वीर! अब
हरौ मेरी पीर, क्यों हमारी बेर बार की ?

बलभद्र जी के भाई को 'हमारी बारी में देर' करने का उलाहना देते हुए कारे बेग व्रजमण्डल में उनके द्वारा किये गये दुष्कर कार्यों का स्मरण कराते हैं—

डूबत उबारो व्रज, मारो मान मघवा को,
कहत कवि 'कारे' जैसे आन गिरि भार की।

— आपने गोवर्द्धन पर्वत को अंगुली पर उठाकर अतिवृष्टि की बाढ़ में डूबते व्रज को उबार लिया और इन्द्र (मघवा) का अभिमान तोड़ दिया।

छन्द हिन्दी में रचे या उर्दू में, 'साहब' तो उनके लिए नन्द के कुमार ही थे—
तू साहब है मेरा, मैं आद नफर तेरा, तैं खबरदार मेरा, ले खबर बार-बार की।
औरन की बेरी तो न बार करी, 'कारे' कहैं, नन्द के कुमार! क्यों हमारी बेर बार की ?

— मेरे साहब तो तुम्हीं हो। मैं तुम्हारा सेवक हूँ। तुम्हीं मेरे रखवाले हो, इसलिए समय-समय पर खबर लेते रहने की प्रार्थना करता हूँ। हे नन्द जी के कुमार! औरों के कष्ट दूर करने में तो आपने कभी देर नहीं की, तो इस 'कारे' की ही बारी में देर क्यों ?

गज-ग्राह कथा

कारे बेग का एक छन्द बहुत प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने गज-ग्राह की कथा का चित्रण किया है—

छल-बल के छाक्यो अनेक, गजराज भारी, भयो बलहीन जब नैकु न छुड़ा गयौ।
कहिबे को भयो करुनाकर, कवि 'कारे' कहैं, रही नैकु नाक, और सब ही डुबा गयौ।
पंकज से पायन पयादे पलंग छाँड़ि, पाँवड़ो विसारि प्रभु ऐसी पीर या गयौ।
हाथी के हृदय माँहिं आयो हरिनाम, सोइ गरे लौं जो आयो, गरुड़ेश तौ लौं आ गयौ॥

— अर्थात् विशाल गजराज (हाथी) को जब ग्राह (मगर) ने ग्रस लिया तो सारे छल-बलों का प्रयोग करके छक गया वह गजराज, परन्तु अपने को ग्राह के जबड़ों से तनिक भी छुड़ा न सका। सब प्रकार से हताश होकर जब वह आर्त स्वर से करुणाकर भगवान् विष्णु को पुकारने को उद्यत हुआ, उस समय केवल उसकी सूँड ही डूबने को रह गयी थी, शेष पूरा शरीर पानी में डूब चुका था। हाथी के आर्त हृदय में हरिनाम आते ही उसकी पीड़ा से करुणार्द्र भगवान् पलंग-पाँवड़े छोड़कर अपने कमल जैसे कोमल पैरों से पैदल ही दौड़ पड़े और जब तक हाथी के हृदय से उसके कण्ठ तक वह करुण पुकार पहुँची, तब तक गरुड़ के स्वामी (भगवान् विष्णु) गजराज की रक्षा करने वहीं पहुँच गये।

दरिया दिल दरियाब

"नाम निर्लेप निर्गुन निर्मल बरै।
एक से अनन्त, सब जगत् सारा॥"

अर्थात् प्रभु के निर्लेप (विशुद्ध), निर्गुण, निर्मल नाम की ज्योति जल रही है। वह एक ही अनन्त रूप होकर सकल जगत् में व्याप्त है— सारी सृष्टि उसी से प्रादुर्भूत है।

ऐसे ज्ञान-गम्भीर शब्दों में वेदान्त दर्शन की प्रस्तुति करने वाले बिहार-वासी संत दरिया साहब के बारे में अनेक लेखकों और महात्माओं का कहना है कि राजस्थानवासी दरिया साहब की ही भाँति इनका भी जन्म मुसलमान परिवार में ही हुआ था। संवत् १७३१ विक्रमी (सन् १६७४ ई.) में ये जन्मे और १०६ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले के धरकंधा गाँव में इनका परिवार रहता था। एक मास की शैशवावस्था में ही मातृहीन हो गये दरिया का ९ वर्ष की आयु में विवाह कर दिया गया। किन्तु होश संभालते ही मात्र १५ वर्ष की आयु में वे संसार से विरक्त हो गये। २० वर्ष की आयु में पूर्ण वैराग्य लेकर ३० वर्ष के होने पर धर्म-प्रचार में लग गये। आज भी इनके पन्थ की मुख्य गद्दी धरकंधा में है जहाँ ये जीवनभर साधना-रत रहे।

दरिया साहब उन महान् सन्तों की परम्परा में अवतरित हुए जो उच्च आध्यात्मिक स्थिति को पहुँचे हुए थे। भले ही पढ़े-लिखे हों या अन्पढ़, उन अदृष्ट-अलक्ष अक्षरों को ये सन्त अवश्य पढ़ सकते थे जिन्हें उच्चशिक्षित जन और बड़े-बड़े विज्ञानी नहीं पढ़ पाते। निस्सन्देह ऐसे अधिकतर सन्तों की वाणी हिन्दी में ही उपलब्ध है। कबीर, मीराबाई, रविदास, नानक, मलूकदास, दादूदयाल, दयाबाई, सहजोबाई, नाभादास, वल्लभाचार्य, सूरदास, अष्टछाप के अन्य सन्त, तुलसीदास जैसे सन्तों की यह नामावली बहुत लम्बी है। ऐसे ही साधक सन्तों में से थे दरिया साहब, जो कहते थे :

दरिया दिल दरियाब है, अगम अपार बेअन्त।
सब महँ तुम, तुम में सबै, जानि मरम कोइ सन्त॥

अर्थात् जीव का हृदय तो पानी के दरिया (नदी या समुद्र) की भाँति अगम, अपार, अनन्त है। तुम सब में हो, सब तुम में हैं। यह मर्म कोई-कोई सन्त ही जानते हैं।

जन्म से वे जो भी रहे हों, उनका जीवन-दर्शन भारत के सनातन जीवन-दर्शन से अभिन्न है। उनके रचे ग्रन्थों के नाम भी कितने रोचक हैं, जैसे— (१) ब्रह्मज्ञान, (२) गणेश-गोष्ठी, (३) रमेश-गोष्ठी, (४) काल-चरित्र, (५) अग्रज्ञान, (६) भक्ति-हेतु, (७) अमर सार, (८) प्रेम-मूल, (९) ज्ञान-मूल (१०) ज्ञान-स्वरोदय, (११) ज्ञान-रत्न, (१२) निर्भय ज्ञान, (१३) बीजक, (१४) सतसइया, (१५) दरियानामा, (१६) दरिया-सागर इत्यादि।

बिहार प्रान्त से लेकर उत्तर प्रदेश के बलिया-गोरखपुर-पर्यन्त दरिया साहब के पन्थानुयायी आज भी फैले हैं। उड़ीसा के कटक जिले में भी इस गद्दी के अनुयायी मिलते हैं।

अपने परलोक-गमन की बात दरिया साहब ने पहले ही बता दी थी—

संवत् अट्ठारह सौ सैंतिस, भाद्र चौथ अंधार।
सवा जाम जब रैन गो, दरिया गौन विचार॥

अर्थात् संवत् १८३७ के भाद्रपद मास में कृष्ण पक्ष की चतुर्थी की रात का सवा प्रहर बीतने पर चले जाने का विचार दरिया ने किया है।

उनकी वाणी में रहस्य का पुट भी है। वे कहते हैं—

देख दिब दृष्टि, असमान में चन्द्र है,
चन्द्र की ज्योति, अन्गिनत तारा।
आदि औ अन्त सब मध्य है मूल में,
मूल में फूल धौं केति डारा॥

अर्थात् साधक दिव्य दृष्टि से सम्पन्न होने पर देखता है कि आकाश में चन्द्रमा है, चन्द्रमा की ज्योति है, अगणित तारे हैं। आरम्भ और अन्त सब मध्य में ही हैं, वही मूल है। उस मूल में फूल पता नहीं किसने रोप दिया है ?

आदि और अन्त को मध्य में धारण किये हुए मूल में यह फूल नाभि-कमल ही तो है। चन्द्रमा की ज्योति सदृश क्षीरसागर के वासी, अखिल विश्व के मूल भगवान् विष्णु के नाभि-कमल में ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा प्रकट होते हैं।

जो धुनियाँ, तौ भी मैं राम! तुम्हारा

वे मुसलमान परिवार में जन्मे थे। घर में कपास धुनने का काम होता था। नाम था— दरिया साहब। पिता धुनियाँ थे। रहते थे राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र के अन्तर्गत जैतरन नामक गाँव में। संवत् १७३३ (१६७६ ई.) में जन्मे थे। यह परिवार पहले, जब राजस्थान में हिन्दू राज्य था, हिन्दू ही था। वंश-परम्परा से इनके पुरखे हिन्दू ही थे। किन्तु जब वहाँ मुगलों का दबाव बढ़ा, मुसलमानों ने आक्रमण पर आक्रमण करके हिन्दू जनता को उत्पीड़ित किया, उस समय दरिया साहब के कोई पुरखे मुसलमान बना लिये गये। इसके बाद भी मुस्लिम समुदाय में इन्हें अपमानित किया जाता रहा। उधर हिन्दू समाज भी इन्हें अपने से कटे हुए विधर्मी मानकर हेय समझता था। फलतः दरिया साहब ने जब होश संभाला तो किसी ओर भी इन्हें उपासना का वैसा अधिकार प्राप्त न था जैसा अन्य हिन्दुओं या मुसलमानों को था। दरिया साहब ने स्वयं कहा है अपनी इस दयनीय स्थिति पर :

''नाह था राम रहीम का, मैं मतिहीन अजान।''

अर्थात् न मैं राम का रहा न रहीम का, मतिहीन अज्ञानी तो तब था ही।

गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति ही इनका बचपन भी बड़े संकटों और अभावों में बीता क्योंकि माता-पिता की मृत्यु इनके बचपन में ही हो गयी थी। तब ये सात वर्ष के थे। तत्पश्चात् ये अपनी दादी (या नानी) के पास रहे और पले-बढ़े।[१] दादी का नाम कमीरा बीबी था और वह बहुत निर्धन थी। निर्धनता में भी वह विख्यात भक्तिमती मीराबाई में बड़ी श्रद्धा रखती थी। मीरा के अनेक पद कमीरा बीबी को कण्ठस्थ (याद) थे जिन्हें जब वह गाती तो बालक दरिया ध्यान से सुनता रहता। इस प्रकार मीरा के अनेक भजन दादी से सुनते-सुनते उसे भी कण्ठस्थ हो गये। दादी के इस मीरा-प्रम किंवा भगवत्प्रेम ने बालक दरिया के मन में भक्ति का जो बीज रोपा, आगे चलकर वही विकास पाकर फलित हुआ। बाल्यावस्था और किशोरावस्था के संस्कार जीवन में नींव का काम करते हैं। दरिया को भी धीरे-धीरे राम-नाम से लगन लग गयी। वह कुछ समय के लिए तो भूल ही गया कि वह मुसलमान माता-पिता की सन्तान है। दरिया पढ़-लिख तो नहीं पाये, किन्तु दादी कमीरा से सीखे भजन वे प्रायः गुनगुनाया करते थे जिनसे उन्हें लगाव हो गया था।

बड़े हुए तो दुनिया ने दुनियादारी सिखानी आरंभ की। अतः इन्होंने भी सोचा कि हम मुसलमान हैं इसलिए किसी पीर-फकीर या मौलवी से ज्ञान प्राप्त करें— उनके मुरीद बनें। गये कई पीर-फकीरों और मुल्ला-मौलवियों के पास, किन्तु निर्धन-अपढ़ दरिया की गुजारिश (निवेदन) पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। जहाँ भी गया, उसे उपेक्षा ही मिली।

---

१. यह स्पष्ट नहीं है कि वह उनकी दादी थी या नानी, क्योंकि ऐसा भी विवरण मिलता है कि दरिया साहब रैन ग्राम-निवासी अपने नाना के घर पले थे। जो भी हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

निराश हो गया दरिया। तब सोचा— 'पीरों-मुल्लाओं ने तो अपनाया नहीं, बहुत दौड़ लिया मैं, किसी ने दरख्वास्त नहीं सुनी। सबने मुँह फेर लिया तो अब हम भी बस करते हैं। चलें, किसी हिन्दू सन्त से प्रार्थना करें।' खोज में लग गये। और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ'। दरिया को पता लगा कि एक बहुत बड़े महात्मा बीकानेर के निकट खियानसर में रहते हैं, नाम है उनका प्रेमजी। बस, फिर क्या था, दरिया जी बड़ी ललक लेकर पैदल ही उस स्थान की ओर चल पड़े। मुल्ला-मौलवी-पीर-फकीरों से तो उन्हें विरक्ति हो गयी थी। निश्चय कर लिया कि अब उनमें से किसी के भी पास कभी नहीं जायेंगे। और पहुँच गये प्रेम जी की शरण में, जो संत दादूदयाल के दीक्षित शिष्य थे। प्रथम दृष्टि में ही दोनों ने एक-दूसरे को परख-पहचान लिया। हृदय से हृदय मिल गया और दरिया जी प्रेम जी के ही होकर रह गये, उनके शिष्य बन गये। प्रेम जी ने दरिया जी का न धर्म या मजहब पूछा, न जात-पात पूछी, न ही काम-धाम के बारे में कोई पूछताछ की। उससे गरज क्या ? मनुष्य केवल देह तो नहीं है। नाम-गोत्र-वंश-कबीला देह का ही तो होता है, प्राणों या आत्मा का नहीं। सच्चे सन्त किसी की ये बाहरी वस्तुएं नहीं देखते कि कोठी कैसी है ? रथ या गाड़ी है कि नहीं ? पद-प्रतिष्ठा क्या है ? धन-सम्पत्ति कितनी है ? वे तो आत्मा में देखते हैं झाँककर। यह दृष्टि और क्षमता उनमें होती है, अन्यथा स्वामी रामानन्द कबीरदास को, जिसे नीमा-नीरू जुलाहा मुस्लिम दम्पति ने पाल-पोषकर बड़ा किया था, अपना शिष्य स्वीकार न करते। वैसे ही प्रेम जी से दरिया जी का मिलना क्या हुआ जैसे लोहे को पारस छू गया। दरिया जी में दिव्यता का समावेश हुआ। आत्मिक सम्बन्ध दादू की वाणी से जुड़ गया। दरिया जी ने रैन नामक गाँव में डेरा डाला और आगे वहीं राम-भक्ति में मगन रहे। उन्होंने कहा—

जो धुनियाँ, तौ भी मैं राम! तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मतिहीना, तुम तो हौ सिरताज हमारा॥

कहते हैं इनके जन्म की भविष्यवाणी सन्त दादू ने सौ वर्ष पूर्व ही कर दी थी। संत सुखराम दास सहित अनेक शिष्यों ने दरिया साहब से उस परम्परा का प्रकाश पाया। दरिया जी कहते हैं—

जाके राम-नाम उर नाहिं,
ते घट मरघट सारिखा, भूत बसै ता माहिं।

अर्थात् जिसके हृदय में राम का नाम नहीं, वह घट (शरीर) तो मरघट के समान है जिसमें भूत-प्रेत निवास करते हैं।

मानव देह पाकर भी जो राम-नाम का उच्चारण नहीं करते, उनकी दुर्गति की उपमा देते हुए दरिया साहब कहते हैं कि मनुष्य जन्म मिलता तो है पहले का बोझ सिर से उतारने के लिए, परन्तु ये लोग उल्टे और अधिक भार लाद कर ले जाते हैं :

दरिया नर तन पाय कर, किया न राम उचार।
बोझ उतारन आइया, लिये चले सिर भार॥

उड़ीसा के रसखान थे सालबेग

सालबेग निश्चय ही मुसलमान थे, परन्तु भगवान् विष्णु के प्रति उनकी जैसी भक्ति, उनका जैसा समर्पण भाव हिन्दू भक्तों में भी विरलों को ही प्राप्त हो सका है। वे उत्कल (उड़ीसा) के रसखान ही माने जाने चाहिए। उड़ीसा के 'जगन्नाथ' प्रसिद्ध हैं। उनकी रथ-यात्रा आज भी बड़े समारोह से निकलती है, तब भी निकलती थी और सालबेग वर्ष भर बड़ी व्यग्रता, उत्कट अभिलाषा से इस दिन की आकुल प्रतीज्ञा करते थे। अपने पलक-पाँवड़े बिछाने को व्यग्र रहते थे वे रथ-यात्रा के पथ में, उसके स्वागत-सम्मान में। कम ही हिन्दू होंगे जो सालबेग की भाँति वर्ष का एक-एक दिन उस महिमा-गरिमामयी रथ-यात्रा की पहाड़ जैसी प्रतीक्षा में काटते हों। कारण, उड़ीसा का हर हिन्दू चाहे वह भक्त हो या न हो, जगन्नाथ जी के मंदिर में जा सकता था, दर्शन-अर्चन कर सकता था, परन्तु सालबेग मुस्लिम होने के कारण उस मंदिर में प्रवेश नहीं पा सकते थे, न उसकी चौखट ही छू सकते थे, इसलिए वे बड़ी अधीरता से बस केवल एक ही दिवस की आकुल प्रतीक्षा करते रहते थे—वह दिन था जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा निकलने का।

जिस दिन रथयात्रा निकलती, सालबेग और दिनों की अपेक्षा कई गुना उत्साह से बड़े भोर में स्नान-ध्यान करके नित्यकर्मों से निबट लेते थे। उस दिन वे तब तक निर्जल व्रत रखते, जब तक कि रथ-यात्रा के मार्ग में जाकर जगन्नाथ जी के दर्शन न कर लें और अविरल अश्रुपात करते हुए उन्हें आत्म-निवेदन के रूप में अपने रचे हुए पद न सुना लें। सालबेग को विश्वास था कि श्री रंगास्वामी (विष्णु भगवान्) उनकी आर्त पुकार अवश्य सुनते हैं, क्योंकि आखिर वही तो उनके शरणदाता हैं। कई मुसलमान, जो उनके मुहल्ले में ही थे, पड़ोसी सालबेग को टोकते, कहते— "पागल क्यों होते हो रथ-यात्रा के पीछे ? क्या रखा है उसमें जबकि पुजारी लोग तुम्हें जगन्नाथ-मंदिर में घुसने तक नहीं देते ? मुसलमान कह कर तुम्हें दुर-दुराते हैं; भगाते हैं मंदिर-द्वार से।"

सालबेग बुरा न मानते, न उसमें अपना अपमान समझते, वरन् चुपचाप रोने लग जाते, आँसुओं की झड़ी लग जाती, बोलना या उत्तर देना उनके लिए कठिन हो जाता। किसी प्रकार रोते-रोते ही कहते, "अरे, ऐसा न कहो पुजारियों को या किसी को। दोष उनका नहीं है भाई ! यह सालबेग है ही इस काबिल। उतनी पवित्रता मैं प्राप्त कहाँ कर पाया ? भगवान् के दरबार में पहुँच पाना क्या सरल होता है ? फिर मैं तो सच ही हीन जाति का एक यवन हूँ। वे कैसे वहाँ मुझे जाने दे सकते हैं ? हिन्दू भाई उन पर कुपित न होंगे क्या ? इसी से रथ-यात्रा के बीच में खूब मन भर कर श्री रंगास्वामी को निहार लेता हूँ। वे भला दर्शनों के लिए किसी को कब मना करते हैं ? और मैं साफ देखता हूँ कि उनकी नजरों में मेरे प्रति दया-कृपा अवश्य है।" सच ही उस वर्ष जब नगर में जगन्नाथ जी की रथ-

यात्रा निकली तो सालबेग काष्ठवत् रथ-यात्रा के पथ में, पथ की उस धूल में जहाँ जगन्नाथ जी का रथ चल रहा था, गिर पड़े और उस धूल में अपना माथा रगड़-रगड़ कर गा उठे—

'आहे नील शइल प्रबल मत्त वारण,
मो आरत नलिनी वन कू कल दलन।...
कहे 'सालबेग' हीन जाति रेमुं यवन,
श्री रंगा - चरण तले पशु अधि शरण।'

रथ यात्रा में शामिल अनेक भक्तगण 'सालबेग' के स्वर में स्वर मिलाकर गाने लगे।

अपने को 'आर्त नलिनी' तथा 'हीन जाति यवन' बताते वे हिचके नहीं, वरन् अपना मन हल्का कर लिया। यह दुःख जगन्नाथ स्वामी को न सुनाकर और सुनायें भी किसे संसार में! कौन सुनने वाला है ? रथ-यात्रा चल रही थी और सालबेग का स्वर ऊँचा और ऊँचा होता जाता था—

'जगबन्धु हे गोसाईं!
मोह थिवा याके नंदि घोषे थिव रहि।'

''हे जगद्भ्राता स्वामी जगन्नाथ! जब तक मैं तुम से बिदा न ले लूँ, तुम इसी प्रकार अपूर्व छवि-छटा से नंदीघोष पर आसीन रहना।''

बिना दिव्य दर्शन के ऐसी पद-रचना कौन कर पायेगा ? अस्तु, सालबेग की आँखों में उन अविनाशी जगद्बन्धु जगन्नाथ श्री रंगास्वामी (विष्णु) का यह सजीव साकार लीलारूप नन्दीघोष पर सुखासीन मुद्रा में बस गया था—जीवन भर के लिए ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर के लिए। लोक-लोकान्तर में सालबेग पुकारते रहेंगे इसी प्रकार — 'हे रंगास्वामी! मैं तुम्हें जब तक अपलक निहारू, देखूँ तुम्हारी दिव्य रथ-यात्रा, हे जगन्नाथ स्वामी! तुम तब तक इसी प्रकार नन्दीघोष की पीठ पर विराजते रहना, कहीं तुम्हारा यह अतुल अप्रतिम रूप मेरी आँखों से ओझल, अन्तर्धान न हो जाये, हे गोसाईं!'

'अनहद' शब्द-साधक बुल्लेशाह

पंजाब के प्रसिद्ध सूफी संत कवि की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध है :

"ना मैं मुल्ला ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी ना मैं हाजी।
'बुल्लेशाह' नाल लाई बाजी, अनहद सबद बताया है॥"

बुल्लेशाह मुसलमान संत ही थे, परन्तु उन्होंने आत्म-परिचय में मुल्ला-काजी-सुन्नी-हाजी जैसे शब्दों से विरक्ति ही नहीं व्यक्त की अपितु उन्हें पूर्णत: नकारते हुए जिस प्रकार वेदान्त और योग-दर्शन के 'अनहद' शब्द को अपनी आध्यात्मिक साधना का मूल मंत्र किंवा लक्ष्य घोषित किया, उससे सहज जिज्ञासा होती है कि कौन थे ये बुल्लेशाह ?

खोज करने पर पता चलता है कि ये किसी समय भारत से बाहर किसी 'वलद' राज्य के बादशाह थे, कहीं-कहीं 'बलख' भी लिखा है इसे। जो भी हो, यह मुस्लिम राज्य बुखारा से थोड़े ही अन्तर पर था, इसलिए 'बलख' भी हो सकता है। बलख-बुखारा का नाम प्राय: 'साथ-साथ' लिखा जाता है।

बलख या वलद से वे कैसे भारत आये और वेदान्त दर्शन तथा हिन्दू योग-पद्धति के साधक बने, इसके मूल में आरम्भ से ही उनकी यह प्रबल भावना रही कि मैं राज्य-सुख त्याग कर सूफी जीवन व्यतीत करूँ, साधु हो जाऊँ, नहीं तो बलख-बुखारे में भी मुसलिम आलिमों और औलियाओं, पीरों-फकीरों की प्राप्ति उनके लिए अशक्य न थी। अपनी इसी चिरसंचित साध के कारण उस बादशाह ने एक दिन वजीरों (मंत्रियों) से प्रश्न किया— "क्या आप लोग किसी ऐसे सूफी फकीर को जानते हैं जो मुझे रूहानी रोशनी (आत्मिक प्रकाश) हासिल करा सके ? है कोई आपकी जानकारी में ऐसी सूफी हस्ती ?"

"हुजूर ! हम लोगों ने मियाँ मीर का नाम सुना है कि वे बहुत पहुँचे हुए फकीर हैं। लेकिन उनका दीदार (दर्शन) हो जाना आसान नहीं होता, यह भी लोगों का कहना है। वे बदख्शाँ के मशहूर आलिम मुल्ला बदख्शानी के मुरीद हैं, कई मुल्कों में उनका नाम है। लाहौर शहर से मशरिक (पूर्व) में करीब तीन मील के फासले पर उनका मुकाम है। वहाँ तक पहुँचने में दो महीने का वक्त लगता है।"

वजीरों को मियाँ मीर के प्रति जितनी कुछ जानकारी थी, बता दी बादशाह को। इस बादशाह का नाम तब बुल्लेशाह न था—पूर्वनाम कुछ और ही था जो अब जान पाना कठिन है। बुल्लेशाह नाम तो उस बादशाह का मियाँ मीर ने ही रखा, जब उन्हें फकीरी दी, दीक्षा दी।

जिसके मन में जो चाह है, उत्कट लगन है, वह खंडित न हुई तो एक दिन साकार रूप लेती ही है। अत: उस बादशाह ने न केवल बादशाहत छोड़ दी, परिवार छोड़ा,वरन् राज्य अपने लड़के को सौंपकर स्वयं भारत की ओर चल पड़ा।

उसके साथ राज्य के १०० सिपाही, मंत्री और धन भी था, हीरे-जवाहरात थे। चलते-चलते दो महीने होने को आये, तब कहीं लाहौर की सीमा पर पहुँचे। पता किया मियाँ मीर साहब का ठिकाना। सही जानकारी होने पर यह काफिला उस स्थान पर पहुँच गया। मियाँ मीर से जब भी जो चाहे नहीं मिल सकता था, वरन् उसका नाम-धाम पहले कोई व्यक्ति पता करके अन्दर जाता था, बताता था कि फलाँ आदमी दीदार (दर्शन) के लिए आया है और तब यदि मियाँ मीर स्वीकृति देते, तभी उनसे भेंट करायी जाती थी। मीर के लाखों शिष्य दूर-दूर तक फैले थे और वस्तुत: वे एक बृहत् जन-शक्ति के मसीहा थे। यहाँ तक कि वह समय औरंगजेब का था, किंतु मियाँ मीर ने कभी भी उस मुगल शासक की परवाह न की, वरन् वे उसके तख्त की सदैव उपेक्षा ही करते आये, यह तथ्य इतिहास-प्रमाणित है। यहाँ तक कि एक दिन जब सिख गुरु अर्जुनदेव को औरंगजेब ने पकड़ मँगाया और उन्हें यातनाएं देकर मार डालने के फेर में था, मियाँ मीर गुरु अर्जुन देव से आकर मिले और उनसे कहा— ''अगर आपकी इजाजत हो तो मैं इस जालिम औरंगजेब की बादशाहत की ईंट से ईंट बजा दूँ।'' उस दमनकारी जमाने में शायद मियाँ मीर ही थे, जो खुले आम और वह भी औरंगजेब के पास-पड़ोस में इतनी निर्भीकता से ऐसे शब्द कह सकते थे। परन्तु अर्जुनदेव संत थे, उन्होंने कहा— ''आप शांत रहें। प्रतिकार नहीं करना। मुझे तो उसका (परमात्मा, अकालपुरुष का) भाणा (बहाना) मीठा लागे कि ईश्वर की यदि यही इच्छा है, इसी बहाने वह मुझे बुलाना चाहता है, तो यह मार्ग (अपनी मृत्यु का) मुझे मधुरिम लगता है।'' और वे नहाने के बहाने एकाएक रावी नदी में लुप्त हो गये सदा के लिए। औरंगजेब हाथ मलता रह गया।

इन्हीं मियाँ मीर ने अमृतसर के प्रसिद्ध स्वर्ण-मंदिर की नींव में प्रथम ईंट रखी थी, यह बात तो सभी मानते हैं, परन्तु कम ही लोग जानते हैं कि मियाँ मीर किस मिट्टी के बने थे और उनका गुरु-सम्प्रदाय सूफी होने पर भी किस कदर शरअ और इस्लाम की कट्टरता से कोसों दूर था। एक उदाहरण मियाँ मीर के गुरु मुल्ला बदख्शानी का। उनसे किसी ने पूछा— ''हजरत! आप पैगम्बर (मुहम्मद साहब) को याद नहीं करते, क्या वजह है ?''

मुल्ला बदख्शानी ने क्या लासानी उत्तर दिया! कहते हैं फारसी में—

''पञ्ज: दर पञ्ज: मञ्चि खुदादारम्। मञ्चि परवाईं कि मुस्तफा दारम् ?''

अर्थात् ''मैं तो प्रत्यक्ष परमात्मा से ही पञ्जा लड़ाता हूँ— उनका दर्शन, साक्षात्कार करता हूँ— मुझे मुस्तफा (पैगम्बर मुहम्मद) की क्या परवाह ?''

कैसा विस्फोटक और विस्मयकारी उत्तर है यह एक खासुल्खास बदख्शां के मुसलमान सूफी का! आज भी यदि कोई मुस्लिम विचारक ऐसे शब्द कहे-लिखे तो कट्टरपन्थी मौलाना व काज़ी न केवल उसे 'काफिर' घोषित कर देंगे, वरन् फतवा दे डालेंगे कि उसकी गर्दन उड़ा दी जाये। किन्तु मुल्ला बदख्शानी आज से साढ़े तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ऐसे वचन कह सके थे, यह आश्चर्य ही है।

ऐसे गुरु के शिष्य मियाँ मीर ने यदि अमृतसर के स्वर्ण मंदिर की नींव रखी और इस पवित्र कार्य के लिए उन्हें ही चुना गया तो यह युक्ति-युक्त और उनके योग्य ही था। वह सूफी संत पवित्र-जीवन था। अब देखिए, बलख का बादशाह अपने ताम-झाम के साथ जब मियाँ मीर के डेरे पर आया और एक व्यक्ति कुटी के अन्दर यह संदेश ले गया कि "हुजूर ! बलख का बादशाह आप का दीदार चाहता है।" तो उस फकीर ने पूछा— "उसके साथ-संग में कौन लोग हैं ? उसकी मौजूदा हालत बयान करो।"

संदेश-वाहक ने बताया— "उसके साथ उसके १०० सिपाही हैं, वजीर भी हैं और दौलत भी है।"

मियाँ मीर ने कहा— "उससे कह दो, मुलाकात मुमकिन नहीं। वह अपना शाही ताम-झाम यहाँ से दूर रखे तो बेहतर।"

बादशाह को इसी उत्तर से अवगत करा दिया गया। वह भी समझ गया इस उत्तर का मर्म। तत्काल उसने वजीरों से कहा— "सब लोग यह जगह छोड़ दो, दूर जंगल में चलो।" जब वे लोग वहाँ पहुँचे, तो फिर उनसे बादशाह ने कहा— "हमें तनहा (अकेला) छोड़ दो यहीं। हम वापस न जायेंगे। या तो वस्ल ही हो जायेगा, या मर के मिटेंगे। आप लोग लौट जायें।"

वजीर बड़े दुःखी-चिन्तित कि कैसे बादशाह को अकेले छोड़ दें। कहा— "हुजूर ! हमें गुनहगार न बनायें। मुल्क लौटकर हम रियाया से, शहजादों से क्या बतायेंगे ? कैसे उन्हें मुँह दिखायेंगे अगर आपको यहाँ इस हालत में अकेले छोड़कर लौटें ?"

किंतु बादशाह ने कुल मालो-दौलत वहीं उन सिपाहियों और पास-पड़ोस के गरीबों को बाँट दी, अपने पास रखी केवल एक चादर। बस, बाकी एक सिक्का भी न रखा अपने लिए। वजीर तमाशाई ही बने देखते रहे। वजीर व सिपाही बलख वापस चले गये।

बादशाह चादर कन्धे पर डालकर बिल्कुल अकेला मियाँ मीर की कुटी पर गया। दुबारा अन्दर सूचना भेजी गयी कि "वही शख्स फिर आया है दीदार (दर्शन) के लिए।" मियाँ मीर ने पूछा— "किस हालत में है ?" बताया गया कि "तनहा ही है। सिर्फ एक चादर कंधे पर है उसके। पता चला है, सब आदमी वापस भेज दिये। मालोज़र बाँट दिया। पास कुछ न रखा।"

फकीर ने तब भी कहा— "उससे कहो, अभी हम नहीं मिलेंगे। कह दो, हमारा हुक्म है कि वह रावी किनारे जाये, यहाँ से १२ कोस की दूरी पर वहाँ एक मस्तमौला, बेफिक्र फकीर रहता है। जंगल में तपे उसके पास रहकर। उसके बताये रास्ते से १२ साल सख्त मेहनत करके मश्क (अभ्यास) करे, जो वह फकीर उसके लिए तजवीज करे।"

बादशाह ने सुना, मौन रहा और तत्काल रावी किनारे बताये गये स्थान के लिए रवाना हो गया। वहाँ गया तो देखा—एक साधु रावी-तट पर घोर जंगल में एकाकी बैठा है अवधूत

की भाँति। उसके पास पहुँचा तो उस अवधूत महात्मा ने स्वयं ही कहा— "आ गये ? तुम तो बलख (वलद) के बादशाह हो न ?"

बादशाह चकित कि ये कैसे जान गये ? पूछा— "हजरत, आपने पहले कभी इस खादिम (सेवक) को देखा नहीं, तो जानते कैसे हैं ?"

उसने कहा— "तुम्हारे बारे में मियाँ मीर ने मुझे बताया था कि एक दिन तुम यहाँ आओगे। आये तो उसे मार्ग दिखाना और अभ्यास करने की ऐसी विधि भी बताना कि उसकी अन्दरूनी कालिख धुल जाये— साफ हो जाय उसका दिल-दिमाग। वह दिन आ गया। इसी से मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ।"

यह सुना, तो बादशाह ने उसके पाँव पकड़ लिये। कहा— "हजरत, अब मेहरबानी (कृपा) करें। रोशनी (प्रकाश) दें। मैं अब कहाँ का बादशाह! रास्ते का फकीर हूँ और आप का खादिम (खिदमत, सेवा करने वाला)।"

साधु ने निर्देश दिया— "अनाज या मांस आदि छूना भी नहीं। निर्मल, पाक-साफ रहना और फल-सब्जी जो भी मिले उस पर गुजर करते हुए, मैं जो अभ्यास बताता हूँ उसे करना।"

उसने उसे योग-पद्धति बतायी और बादशाह ने पूरे १२ वर्ष तक असीम धैर्य एवं संयमपूर्वक वहाँ साधना की। यहाँ तक कि उसकी देह सूखकर काँटा हो गयी। आँखें गड्ढे में चली गयीं। दाढ़ी और नाखून बहुत बढ़ गये। देह पर जाने कितनी धूल सनी रहती।

१२ वर्ष साधना में खपाने के बाद वह लौटा, मियाँ मीर के स्थान पर। आकृति काली पड़ गयी, त्वचा काली पड़ गयी, सूख गयी। जंगल के अवधूत ने कह दिया था— "लौट जाओ। दर्शन करो जाकर।" फकीरों ने मियाँ मीर को संदेश दिया कि बलख का वही बादशाह वर्षों बाद फिर आया है। मियाँ मीर ने पूछा— "अब क्या हालात हैं उसके ?"

बताया गया— "बड़ी खस्ता हालत है। जिस्म सूखा है, बाल बेतहाशा बढ़े हैं, धूल सनी है जिस्म पर। पहचान में नहीं आता। चमड़ी काली पड़ गयी है। खामोश खड़ा है।"

अब आदेश हुआ— "ले आओ उसे। मुलाकात होगी।" फकीर उसे अन्दर लाये। आते ही वह पाँवों में पड़ गया। मियाँ मीर ने कहा— "बैठ जाओ। तसल्ली करो। जो चाहते हो, वह वक्त आ गया है।"

और फिर बादशाह को, जो पूर्णतः अब फकीर ही था, मियाँ मीर ने वेदान्त में ब्रह्म और जीवात्मा का जो अद्वैत सम्बन्ध है, उस तत्त्व-ज्ञान की शिक्षा दी। वैसे ही अपना जीवन और व्यवहार बनाने का उपदेश किया। बादशाह का नाम रखा बुल्लेशाह। यही नाम लोक-प्रचलन में प्रसिद्ध किया गया। बुल्लेशाह सदैव मियाँ मीर की सेवा में रत रहे। उन्हें तत्त्व-ज्ञान हुआ और फिर उनकी वाणी से अनेक छन्द विविध रागों में मुखरित हुए। ऐसा सिद्धि रूप में भी होता है। जब साधक को सिद्धि प्राप्त होती है तो अनेक राग-रागिनियाँ स्वतः

छन्द रूप में उसकी वाणी से फूट उठती हैं। राग भैंरों, ताल दीपचंदी, राग मालकोंस-ताल तिताला, राग काफी-ताल तिताला और राग पीलू-ताल कहरवा आदि में बुल्लेशाह के पद पंजाब में आज भी सर्वत्र गाये जाते हैं। पाकिस्तान बनने के बाद भारत के अन्य प्रांतों में भी जहाँ-जहाँ पंजाब के विस्थापित जाकर बसे, बुल्लेशाह के पद पंजाबी परिवारों में अनेक अवसरों पर गाये जाते हैं। कीर्तनकार-भजनीक भी उन्हें गाते हैं।

उस समय जो मुस्लिम शासक था उससे कई बार मंत्रियों-मुल्लाओं ने बुल्लेशाह के विरुद्ध शिकायत की कि "यह शख्स कुफ्र फैलाता है। अपने को खुदा कहता है।" बुल्लेशाह इन शिकायतों पर कई बार गिरफ्तार करके उस शासक के समक्ष पेश किये गये लेकिन अपने अकाट्य तर्कों से मुक्त हो जाते रहे। वस्तुतः वे 'अहं ब्रह्मास्मि' (अनलहक) को ही अपने शब्दों में दुहराते थे। आखिरी बार जब उन्हें पकड़वाया बादशाह ने तो उनसे दरबार में पूछा— "तुम कभी अपने को खुदा, कभी बन्दा और कभी बादशाह बताते हो, यह क्या माजरा है ?"

आपने बताया— "मैं शरीयत के दायरे से दूर हूँ इसलिए खुदा हूँ और अब जब आपकी गिरफ्त में हूँ तो फिलहाल बन्दा हूँ और चूँकि मैं फौज व खजाना नहीं रखता इसलिए बादशाह भी हूँ क्योंकि न मेरा कुछ खर्च है और न कोई दुश्मन।"

इस बार भी मुक्त हो गये वे। उनके पदों में पंजाबी शब्द हैं, हिन्दी के भी, यथा—

बुल्लेशाह घृण जीवन मेरा, जौलगि दरस दिखाई।

इसमें 'दरस', 'जौलगि', 'जीवन' और 'घृण' जैसे शब्द बुल्लेशाह की जीवन-धारा प्रकट कर देते हैं। और भी—

सब साधु लखो, कोई चोर नहीं, घट-घट में आप समाया है।

यह क्या हिन्दी कविता ही नहीं है ? वे कहते हैं,

अब तो जाग मुसाफिर प्यारे! रैन घटी लटके सब तारे।
आवा - गौन सराई डेरा, बहुरि न होसी आवन तेरा।
मिरग जतन बिन खेत उजारे॥

यह हिन्दी कविता ही है। केवल 'होसी' शब्द एक पंजाबी का है।

मियाँ मीर के ऐसे कवि शिष्य से सहज समझा जा सकता है कि उस सूफी फकीर के सन्निकट उस घोर इस्लामीकरण के काल में भी कैसा उन्मुक्त, वेदान्तदर्शन का पृष्ठ-पोषक और प्रचारक वातावरण रहता-पनपता, प्रोत्साहन पाता होगा। उसी के एक संदेशवाहक थे बुल्लेशाह। वे बलख-बुखारे की इस्लामी जमीन से आकर भी आजीवन 'अनहद सबद' (अनाहत नाद) की साधना में मग्न रहे। अस्तु, मुल्ला बदख्शानी, उनके समर्थ शिष्य मियाँ मीर और उनके महान् शिष्य कवि बुल्लेशाह की आज भी उतनी ही प्रासंगिकता है— विशेष कर जब कि आज भी उनके जीवन-दर्शन से राष्ट्र की मुख्य धारा परिप्लावित है।

‘बाबरी मस्जिद’ में राम-नाम रटते शाह वसाली

खुरासान के सूफी संत शाह जलालुद्दीन वसाली प्रसिद्ध रामभक्त थे। राम-भक्ति ही उन्हें मुलतान से अयोध्या खींच लायी। उन्होंने मुलतान में रामकथा-वाचक पं. टेकचंद से श्रीराम-जन्मभूमि और उनकी पावन लीला-भूमि अयोध्या का पता पाया और जान सके कि श्रीराम अयोध्या में जन्मे थे तथा यह नगरी अवध में सरयू नदी के तीर बसी है। यह जानकर वे बहुत उत्कंठा और व्यग्रता से मुलतान नगर से अयोध्या की ओर चल पड़े। मार्ग में लोगों से पूछते जाते थे, ‘‘ए भाई ! अजुधिया शहर किस सिक्त, किस जानिब पड़ता है ?’’

और उसी दिशा में पैदल बढ़ते चले, जब भी अयोध्या पहुँच जायें। और आखिर एक दिन अयोध्या आ ही गये। बड़े प्रसन्न। हर्ष से मन नाच रहा है। सरयू नदी के किनारे खड़े-खड़े उसकी निर्मल धारा निहारे जा रहे हैं, निहारे ही जा रहे हैं। सोच रहे हैं, जैसी कि कथा पं. टेकचंद के मुँह से श्री राम जी की सुनी, वे अपने भाइयों लक्ष्मण जी, भरत जी, शत्रुघ्न जी सहित इसी सरयू के किनारे खेलते होंगे, नहाते होंगे और बहुत बालपन में यहीं कहीं बालू के घरौंदे बनाकर दौड़ लगाते होंगे। और फिर एक दिन इसी सरयू को हाथ जोड़कर, महल-दोमहला छोड़कर, लक्ष्मण-सीता सहित पाँव पियादे, बेसरो-सामान जंगल की ओर रवाना हो गये होंगे। तब कितना रोये-तड़पे होंगे इस नगर के लोग ? वे भाग्यवान् लोग, जिनके हृदय में राम जी बसते थे। और लोगों ने देखा कि सरयू मैया में स्नान करते-करते उस अपरिचित मुसलमान से दिखते यात्री की आँखे आँसुओं से छलछला उठी हैं। ऐसे रामभक्त थे शाह वसाली। उन्होंने उर्दू में रामचरित लिखा था, पर अब वह कहीं प्राप्त नहीं क्योंकि वह छपा नहीं है।

वसाली शब्द मेरे विचार से वस्ल से बना है, जिसका अर्थ है प्रभु से, परम प्रीतम से मिलना। उसी वस्ल (मिलन) की जुस्तजू रहने से वे वसाली कहलाये। सूफी तो वे थे ही। सूफी मत प्रेम-पंथ ही है। इस्लाम में यह माना गया है। सूफी मत के लोग वैसे ही प्रेम-दीवाने होते हैं जैसे रसखान पठान या कवयित्री ‘ताज’ श्रीकृष्ण की दीवानी थी, प्रेम-दीवानी, जैसे मीरा बाई। वैसे ही श्रीराम के प्रेम में पगे थे शाह वसाली।

राम के दीवाने

अयोध्या आये तो लोगों से अपने प्यारे राम का पता पूछा कि ‘कहाँ है वह पाक जगह जहाँ मेरे मालिक (राम) ने जन्म लिया ?’ लोगों ने उस स्थान का पता दिया तो आप तुरत-फुरत श्रीराम-जन्मभूमि पर आये, लेकिन यह क्या ? आश्चर्य और क्षोभ से हाथ मलते खड़े रह गये— देखा, यहाँ तो एक मस्जिद जैसी रचना खड़ी है ! मन्दिर कहाँ गया ? लोगों ने बताया, मन्दिर तोड़कर ही मस्जिद खड़ी की गयी है। बड़े दु:खी हुए। आँसू भर आये

आँखों में। फिर वहाँ खड़ी 'बाबरी मस्जिद' में जाकर उस सरजमी पर माथा टेका, अपने प्यारे को सिजदा किया जो कि कभी यहीं जन्मा, खेला, बढ़ा था और जिसको लोग 'श्रीराम' नाम से अभी भी सुबहो-शाम याद करते रहते हैं। शाह वसाली की वाणी से भी एक वही 'कलामे पाक' राम-नाम गूँजने लगा। सो, शाह वसाली तथाकथित 'बाबरी मस्जिद' में ठहरे क्योंकि हिन्दू पुजारी तो उन्हें मुसलमान समझकर धर्मशाले याकि मन्दिरों में रहने न देते। ठहर गये,पर नमाज न पढ़ते। जपते केवल राम-नाम। हफ्तों-महीनों परिक्रमा पर निकल जाते। परिक्रमा के दौरान कोई कठिनाई न थी, हर क्षण रामधुन गुँजाते चलते। लोग सुनते, चकित होते उनके राम-प्रेम पर। जब जी में आता परिक्रमा पर जाते, अन्यथा कभी 'स्वर्गद्वार' तो कभी 'मणि पर्वत' पर मुकाम करते। अंत में वे स्थायी रूप से 'प्रमोदवन' में जाकर रहने लगे। कहीं राम-कथा, रामायण होने का पता चलता तो शाह वसाली आदि से अन्त तक वहाँ जाकर बड़े तन्मय भाव से कथा सुनते-गुनते, कभी रोते, कभी हँसते। राम-कथा, राम-चरित्र उनके जीवन में बस गया था और यह प्रेम-साधना उन्हें सिद्धि प्रदान कर गयी। वे सिद्ध माने जाने लगे। मुँह से जो एक बार कह दिया, वह हो गया।

जिन पं. टेकचंद मुलतानी से उनको श्रीराम का परिचय मिला, अयोध्या की जानकारी हुई, वही पंडित जी बहुत दिन बाद एक दिन स्वयं भी मुलतान से चलकर अयोध्या आये, शाह से मिलने। शाह वसाली उन्हें प्रमोदवन के उस बेर के पेड़ तले ध्यान लगाये बैठे नहीं मिले जहाँ का पता उन्हें बताया गया था। अब कहाँ खोजें ? तो सोचा— 'रामायण बाँचें, राम-कथा कहें तो शायद वे मिल जायें', क्योंकि कहीं रामकथा हो रही हो और शाह वसाली वहाँ न पहुँचें, यह असंभव था। पं. टेकचंद ने रामायण कथा एक स्थान पर बैठकर आरंभ कर दी और फिर देखा शाह जी वहाँ विद्यमान हैं। शाह जी ने पोथी (रामायण) पर जौ के ५ दाने चढ़ाये। देखा गया वे जौ के दाने सोने में बदल गये। चमत्कारी थे।

पंडित जी ने कहा— "अब कहाँ भेंट होगी ? मैं तो आपसे मिलने ही मुलतान से आया हूँ।"

शाह ने कहा— "प्रमोदवन आइए। बेरी तले मिलूंगा।"

अगले दिन बात हुई। पंडित जी ने कहा— "आप पर राम जी की कृपा है। मैं तो रामायण केवल बाँचता ही रहा, भक्ति नहीं सधी। कोई उपाय मुझे भी बताइए।"

शाह ने कहा— "कल आइए और अपने पास जो कुछ हो गरीबों में बाँट दीजिए।"

पं. टेकचंद ने सब दक्षिणा और पास का खर्च भी बाँट दिया। निष्काञ्चन हो गये। दूसरे दिन प्रमोदवन पहुँचे। शाह के ठिकाने पर देखा, शाह जी बेरी के पेड़ तले ध्यान-मग्न हैं, तल्लीन। आवाज हुई— यद्यपि उनकी आँखें बन्द ही रहीं— "जो कहता हूँ उसे दुहराइए।" और पढ़ने लगे अपने बनाये फारसी के पद—

मामुकी माने क्य दिल दारेम।
रुख व दुनिया वदीं नमी आरेम॥
बुल बुलानेम कज़ कज़ा व कदर।
ओफ़तादर जुदाज़ गुलजारेम॥
मुर्ग शाखे दरख्त लाहू तेम।
गोहरे दुरेंगंज इसरारेम॥

पं. टेकचंद भी यही दुहराते गये। फिर शाह ने कहा—

''वली राम हो जा। वली राम हो जा॥''

बार-बार शाह जी वही कहते जा रहे थे। उस दिन से पं. टेकचंद का नाम ही वलीराम पड़ गया।

इन वलीराम (टेकचंद) ने भी ठेठ फारसी में एक दीवान (ग्रन्थ) लिखा जिसका नाम है— 'दीवाने वलीराम'। उसको प्रतिष्ठा मिली। लखनऊ की मजलिसों में भी पीरजादा नकी शाह कभी यह ग्रन्थ बड़ी मस्ती से सुनाया करते थे। उन्हीं मजलिसों में सुनकर लखनऊ के मौलाना नजीर जैसे प्रख्यात लोगों ने उसे कण्ठस्थ कर लिया था। बहुत सराहते थे। पं. वलीराम (टेकचंद) आगे मुलतान न जाकर अयोध्या में मणिकूट पर्वत पर ही रहते रहे, वहीं उनकी अन्तिम साँस 'राम-राम' रटते टूटी और शाह वसाली राम का ध्यान करते-करते प्रमोदवन की उसी बेरी के नीचे परलोक सिधारे, वहीं बेरी तले उनकी समाधि बनी।

कहते हैं एक बार वर्षाकाल में ये (शाह वसाली) राम-राम रटते दीवाने होकर सरयू में छलांग लगा गये। फिर १५ दिनों तक कहीं खोजे न मिले, न धारा में ऊपर आये। १५ दिन बीते तो आप सरयू से सीधे गुप्तार घाट पर निकलते दिखाई दिये, पर जो गुदड़ी इनके तन पर थी उस पर जल के कहीं छींटे तक न थे।

शाह अली कहते—'अब गयी भ्रान्ति मन की'

महाराष्ट्र के मराठवाड़ा में एक मुसलमान संत जन्मे थे, नाम था उनका—शाह अली कादर (या कादिर)। वह पशवा-राज्य का समय था। वे 'कलगीवाले' संप्रदाय से सम्बद्ध थे। 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) को मान्यता देते थे, वेदान्त में जिसे अद्वैतवाद कहा गया है। उनके बारे में मराठी साहित्य या वहाँ के उर्दू साहित्य अथवा हिन्दी साहित्य में शाहअली नाम से जानकारी उपलब्ध नहीं। किन्तु एक रचनाकार थे महाराष्ट्र में, नाम था—नारु बापू। उन्होंने शाह अली के विषय में यह पंक्ति लिखी है कि *"शाह अली कादर डफ पर कलगी-निशान फड़के जरी"*।

इसी से जाना जा सका शाह अली का पूरा नाम। शाह अली कलमा-कुरान के पाबन्द होने के बावजूद श्रीकृष्ण-प्रेमी संत थे। उनकी रचनाओं में यमुना-तट, ब्रज, ब्रज-बाला, नंद-लाला, वंशी-नाद, गोकुल, वृन्दावन, शंकर, विष्णु-कृपा जैसे शब्दों को संजोये हुए भावपूर्ण हिन्दी पद प्राप्य हैं। श्री कृष्ण की वंशी के मधुर नाद से मनुष्य के मन की भ्रान्ति मिट जाती है— यह विश्वास शाहअली कादिर का रहा था जो एक मुसलमान शायर और संत के लिए सामान्य बात नहीं। उनके कृष्ण-संबंधी पद गेय हैं, रागों में बँधे हैं—

चल जमुना के तीर, बाजत मुरली री, मुरली री। धृ. ॥
मुरली सुन कान्हा की, नीकी, नर-नारी सगरी चौंकी।
सुध न रही वाके तन की,मगन भई नारी गोकुल की।
अब तुम सुनो री! सुनो री॥

—शाह अली आवाज लगाते हैं कि "श्रीकृष्ण की मुरली बज उठी, चलो! यमुना-तट पर चलो। व्रज के, वृन्दावन के नर-नारी, गोप-गोपियाँ, नीकी मुरली-ध्वनि सुनते ही सबके सब चौंक उठे और उन्हें अपने तन की सुधि न रही। गोपियाँ जो गोकुल की थीं, वे सब भी उस मुरली-ध्वनि को सुनकर उसके मधुर नाद में मग्न हो गयीं। अब तुम भी सुनो, कान्हा की वंशी बज रही है।" फिर क्या हुआ कि—

सगरी चलीं जल जमुना कु, सिर पर गगरी ले पपिया कु।
हँसती चली छोड़ लड़कन कु, टेर सुन मुरली की मन कु॥
व्याकुल भई री! भई री!

—और लो, मुरली की तान गूँजते ही सब गोपियाँ सिर पर गगरी रख कर यमुना-तट की ओर चल पड़ीं, बहाना था कि यमुना से जल भरने जा रही हैं। सबकी सब हँसती, हास्य बिखेरती चली जा रही हैं। इस समय उन्हें अपने बाल-बच्चों की भी सुधि बिसर गयी है—उन्हें घर में ही छोड़कर बाहर यमुना-तीर के लिए निकल पड़ी हैं जिधर से कान्हा की मुरली की तान झंकृत हो रही है, व्याकुल बना रही है व्रजबालाओं को।

और ये श्री कृष्णजी हैं कौन ? क्या केवल वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा से ही सम्बन्ध रखने वाले मानव हैं ? नहीं। शाह अली का कहना है—

कृष्ण अवतार विष्णु जी के, नित वे सेवा संभु जी के।
छन्द बजावत मुरली के, चरवैया गौ - बछरन के॥
वृन्दावन मों री, वृन्दावन मों री!

—कवि शाहअली का विश्वास है कि 'ये जो श्रीकृष्ण हैं वृन्दावन के, वे विष्णु भगवान् के ही अवतार हैं, शंभुजी के वे उपासक हैं और वंशी बजाते हुए गाय-बछड़े चरात हैं वृन्दावन में।'

फिर कहते हैं शाहजी कि शंकर जी की कृपा अपरिहार्य है, क्योंकि—

जद शंकर की कृपा भई, तब कान्हा मुरली बजाई।
'शाह अली' कहते, अब गयी भ्रान्ति मन की, मन की री॥

—यह श्रीकृष्ण की वंशी (अनहद नाद) शंकर जी की कृपा के बिना संभव नहीं। शंकर जी कृपा करते हैं, श्रीकृष्ण जी की वंशी बजती है। 'शाह अली' कहते हैं कि अब मेरे मन की भ्रान्ति विनष्ट हो गयी।''

उन दिनों मराठवाड़ा में झाड़-फूँक-टोना-टोटका करने वाला एक मुसलमान चर्चित था, जिसका नाम था— तुकनगीर तुर्रेवाल। शाह अली उसके घोर विरोधी थे। उस 'तुकनगीर' को लक्ष्य कर शाह अली कहते हैं—

तुझे पकड़कर बकरा बनाऊँ, शाह अली के सुन घर का।
तुकनगीर पर सवाई सोंटा, बाजे शाह अली फकीर का॥

तुकनगीर तुर्रेवाल को अनेक मुसलमान मानते थे, किन्तु उसी इलाके में शाहअली उसे तुच्छ समझते थे और जनता को भरमाने वाला मानकर विरोध करते थे। उनके लिए संसार के महान् 'जादूगर' श्री कृष्ण-गोपाल ही थे और उनकी वंशी में ही समस्त 'जादू' समाहित था, लिखते हैं—

लाला नन्द का बजा के बन्सी, बन्सी में जादू डाला।
डाला जादू मोहन ने, धर दी गले में मोहन-माला॥

उस युग में ठेठ मराठवाड़ा के निवासी होकर और मुसलमान परिवार में जन्म लेकर ऐसी हिन्दी में श्रीकृष्ण की महिमा का गुण-गान करना सामान्य बात नहीं थी।

'आलम' बलैया लीजै ऐसे नन्दलाल की

मुगल शासनकाल के हिन्दी कवि आलम खाँ की श्रीकृष्ण-रूपमाधुरी का शब्द-चित्रांकन करने वाली रचनाएं प्रसिद्ध हैं। वे अपनी प्रसिद्ध कृति 'आलम केलि' में सन्ध्या-समय जब श्री कृष्ण गायों के साथ वन से लौटते हैं, उस समय की उनकी छवि का मनोहारी वर्णन करते हैं—

मुकता मनि पीत हरी वनमाल, गगन सुर-चाप प्रकास कियो जनु।
भूषन दामिनि-दीपित हैं, धुरवासित चन्दन खौर कियो तनु॥

— श्री कृष्ण गले में पीताभ मणि-मुक्ता और हरित वनमाला धारण किये हुए ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो आकाश में इन्द्रधनुष प्रकाशित हो रहा है। उनके आभूषण विद्युत् के समान दमक रहे हैं और धूलि-धूसरित शरीर देखकर लगता है जैसे उस पर चन्दन का लेप कर रखा हो।

भगवान् के गले में पड़ी मालाओं की उपमा देवताओं के धनुष (सुर-चाप) से देना इस देश की संस्कृति और धर्म को मन-प्राणों में बसाये बिना कैसे संभव होता ?

आगे आलम लिखते हैं—

'आलम' धार सुधा मुरली, बरसा पपिहा ब्रज-नारिन को पनु।
आवत हैं वन ते जसुदा-धन, री सजनी! घनस्याम सदा धनु॥

— एक गोपी दूसरी से कहती है कि कृष्ण की वंशी अमृत की ऐसी धार बरसा रही है जैसे चातक पक्षी के प्रण को पूरा करने वाली, स्वाति नक्षत्र में मेघों से बरसती धारा। कवि 'आलम' कहते हैं कि वह अपनी सखी को बताती है— अरी सजनी! ये यशोदा के धन, चिरश्यामल घनश्याम वन से लौट कर आ रहे हैं।

यशोदा के आंगन में धूल भरे अंगों वाले, खेलने में मग्न बाल गोपाल की छवि का वर्णन करते हुए भाव-विभोर आलम कह उठते हैं—

जसुदा के अजिर विराजैं मनमोहन जू......
आलम बलैया लीजै ऐसे नन्दलाल की॥

— ऐसे नन्दलाल की बलैया लीजिए।

भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत हृदय वाले ऐसे भगवद्भक्तों के लिए ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कह उठे थे— ''इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।'' इन मुसलमान भगवद्भक्तों पर तो करोड़ों हिन्दू न्यौंछावर कर दें।

कृष्णभक्ति-भाविता कवयित्री शेख

शेख नाम की लड़की एक रंगरेज (कपड़ा रंगने वाले) की बेटी थी, परन्तु हिन्दी में छन्द-रचना करती थी। एक बार कवि आलम ने अपनी पगड़ी शेख के यहाँ रंगने के लिए भेजी। आलम कवि औरंगजेब के लड़के शहजादा मुअज्जम के आश्रित थे, उसी के पास रहते थे। ये संवत् १७१२ में जन्मे थे। शेख ने जब रंगने के लिए पगड़ी उठायी तो उसने देखा कि पगड़ी के एक छोर पर बँधे एक कागज में कुछ काव्य-पंक्तियाँ भी अंकित हैं। वह भी कविता करती थी। उसने तत्काल उस अधूरे छंद को अपनी रचना से पूर्ण किया और पगड़ी रंग जाने पर जब उसे वापस भेजा, तो वही छंद उसके एक सिरे से बाँध दिया।

कहा गया है कि इस कविता के ३ चरण तो आलम रचित हैं, उसके शेष चौथे चरण की पूर्ति 'शेख' ने की। इस संदर्भ में भी भिन्न-भिन्न मत से दो कवित्त अलग-अलग मिलते हैं। एक कवित्त में 'आलम' कवि ने उसके तीसरे चरण में लिखा है—

'आलम' सो नवल निकाई इन नैननि की, पाँखुरी पदुम पै भँवर उमगत हैं।

इसके चौथे चरण की पूर्ति कवयित्री 'शेख' ने यों की—

'चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक-मुख, जानत हैं रैन ताते ताहि में रहत हैं।'

पहले आलम उन पंक्तियों से प्रभावित होकर उस लड़की से जाकर मिले। फिर प्राय: देर तक उनमें काव्य-चर्चा होती रहती। इस प्रकार आलम उसकी ओर अधिकाधिक खिंचते गये और विवाह रचाकर अपने यहाँ ले आये।

स्वयं 'शेख' ने कृष्ण-प्रेमभक्ति में सराबोर होकर अत्यन्त सुन्दर काव्य-रचना की है। एक छंद उद्धृत है—

पैंडो सम सूधो बैंडो कठिन किवार द्वार, द्वारपाल नहीं तहाँ सबल भगति है।
'शेख' भनि तहाँ मेरे त्रिभुवनराय हैं जु दीनबंधु स्वामी सुरपतिन को पति हैं॥
बैरी को न बैर, बरियाई का न परबेस, छीने को हटक नाहिं छीने को सकति है।
हाथी की हुंकार पल पाछे पहुँचन पावै, चींटी की चिंघार पहले ही पहुँचति है॥

इस सुंदर छंद में 'शेख' दीनबंधु , त्रिभुवनराय, सुरपतियों के भी स्वामी श्री कृष्ण को इतना न्यायी, पर दु:ख-कातर और दीन-दयालु सिद्ध करती है कि उनके पास हाथी की हुंकार (पुकार) चाहे पीछे पहुँचे, परंतु चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी की चीत्कार पहले पहुँच जाया करती है और कवयित्री शेख का कहना है कि उन त्रिभुवनपति श्रीकृष्ण के द्वार पर कभी 'द्वारपाल' नहीं रहते वरन् वहाँ पहरे पर बैठी है— 'प्रबल भक्ति'। कैसी दिव्य भावधारा है शेख की! और शेख ने उन श्रीकृष्ण को परम अपनत्व और निष्ठा से 'मेरे' लिखा है। कहाँ क्या मत, संप्रदाय बदला आलम या शेख का ? श्रीकृष्ण की उस उपासिका 'शेख' को क्या हम बेगाना कहेंगे ?

राम-कृष्ण के शरणागत ये मुसलिम कवि

कृष्णभक्त आदिल की पुकार

'आदिल' कृष्णभक्त मुसलमान कवि थे जिन्होंने लिखी थी—'आदिल की पुकार':

'आदिल' सुजान रूप-गुन के निधान कान्ह,
बाँसुरी बजाय जन-तपन बुझाव रे।
नन्द के किसोर, चितचोर, मोर पंखवारे!
बंसीवारे साँवरे, पियारे, इत आव रे॥

'आदिल' आह्वान करते हुए श्री कृष्ण से कहते हैं कि "हे अनन्त रूप-गुणसागर कृष्ण कन्हैया! अब अपनी वंशी बजाकर अपने जन (भक्त) के जी की तपन तो नेक बुझाओ! हे नन्द के किशोर, चितचोर, अपने सिर पर मोर पंख की कलंगी धारण करने वाले वंशीधर, प्रिय साँवले-सलोने श्रीकृष्ण, तनिक इधर भी तो पधारो!"

शब्दों में हृदय का प्यार, उद्दाम दर्शन-पिपासा और कृष्ण से मिलने की तड़प मुखर है, क्या हुआ कि 'आदिल' मुसलमान ही थे।

सरन गहि आयो 'मीर जलील'

उत्तर प्रदेश के हरदोई जिले की एक तहसील और कस्बा है बिलग्राम (प्राचीन नाम बिल्वग्राम)। यहाँ भगवान् राम और कृष्ण के भक्त अनेक मुसलमान कवि हो गये हैं। उन्हीं में से एक थे सैयद अब्दुल जलील। ये भगवान् कृष्ण के उपासक थे, किन्तु बड़े विनम्र। सूरदास जी की भाँति श्री कृष्ण को सम्बोधित कर वे कहते हैं—

अधम उधारन नमवाँ सुनि कै तोर।
अधम काम की बहियाँ गही मन मोर॥

— हे प्रभु! मैंने आपका अधमोद्धारक (अधमों का उद्धार करने वाला) नाम सुना और मेरा मन अधम काम की बाँह पकड़े रहा। अर्थात् मैं भी अधम हूँ , इसलिए आप मेरा भी उद्धार कर देंगे— इस आश्वस्ति से मुझसे अधम कर्म ही कराता रहा।

मन-वच-कायिक निसि-दिन अधमी काज।
करत-करत मन भरिगा, हो महाराज!!

— मन, वाणी और काया (हाथ-पैर-आँख-कान आदि) से रात-दिन निकृष्ट कार्य करते-करते हे महाराज! मेरा मन भर गया/मर गया है। इसलिए अब सब ओर से त्रस्त होकर—

बिलग्राम का वासी मीर जलील।
तुम्हरि सरन गहि आयो हे गुन-सील॥

— हे गुणशील कृपानिधि ! बिलग्राम का वासी यह मीर जलील तुम्हारी शरण में आया है।

बड़भागी थे अब्दुल जलील, जिन्होंने संसार की अधोगामी प्रवृत्ति को पहचान कर पुकारा भी तो भवभयभंजन भगवान् को।

व्रजरानी के भरोसे नबी बख्श 'फलक'

अब देखें दतिया राज्य के निवासी कृष्ण-भक्त कवि नबी बख्श 'फलक' (लालचन्द 'फलक' नहीं) क्या कहते हैं ! उनका यह छन्द द्रष्टव्य है—

राज के भरोसे कोऊ, काज के भरोसे कोऊ,
साज के भरोसे कोऊ, कोऊ वर वानी के।
देह के भरोसे कोऊ, गेह के भरोसे कोऊ
नेह के भरोसे कोऊ, कोऊ गुरु ज्ञानी के॥
नाम के भरोसे कोऊ, ग्राम के भरोसे कोऊ,
दाम के भरोसे कोऊ क रेति-कहानी के।
व्रज है भरोसे सदा स्याम व्रजराज के तो,
'फलक' भरोसे एक राधा व्रजरानी के॥

— संसार में कोई राज्य या राजा पर भरोसा कर रहा है तो कोई अपने कार्य (कर्म) के भरोसे निश्चिन्त है। कोई अपने साज-शृंगार के भरोसे है, कोई सुरीली वाणी या विदग्ध वाग्मिता के भरोसे और कोई सुन्दर काया अथवा बलिष्ठ शरीर के भरोसे बैठा है तो कोई भवन-कोठी के भरोसे। किसी को अपने प्रेम या स्नेही पर भरोसा है और किसी को ज्ञानी गुरु पर। इसी प्रकार कोई अपने नाम से ही आश्वस्त है तो कोई ग्राम से, जबकि किसी को धन पर विश्वास है तो किसी को अपने यश-कीर्ति की कथा पर। व्रजधाम— व्रज के निवासियों— को सदैव व्रजराज श्री कृष्ण पर भरोसा रहा है, जबकि यह जो नबी बख्श 'फलक' है, इसे तो एक मात्र व्रजरानी राधिका जी का ही भरोसा है (कि वे इसे अवश्य संसार-सागर से उबार लेंगी)।

वाहिद अली की लगन

एक अन्य कवि वाहिद अली कैसी लगन लगाये हैं भगवान् पर, छन्द द्रष्टव्य है—

सुन्दर सुजान पर, मन्द मुसकान पर,
बाँसुरी की तान पर ठौरन ठगी रहे।
मूरति विसाल पर, कंचन की माल पर,
खञ्जन सी चाल पर, खौरनि सजी रहे॥

भौंहें धनुमैन पर, लोने जुग नैन पर,
प्रेम भरे बैन पर 'वाहिद' पगी रहे।
चंचल से तन पर, साँवरे बदन पर,
नन्द के ललन पर लगन लगी रहे॥

— श्री कृष्ण की सुन्दर छवि, मन्द मुस्कान और उनकी बाँसुरी की तान से देखने-सुनने वाले अपने स्थान पर जड़वत् ठगे-से रह जाते हैं। उनकी विशाल मूर्ति, स्वर्णमाला, खंजन पक्षी जैसी चाल, तिलक सजे माथे, कामदेव के धनुष जैसी सुन्दर भौंहों, सुन्दर नयनों की जोड़ी और प्रेम भरे वचनों से वाहिद का मन विभोर है। इस चंचल काया और श्यामल मुखमण्डल वाले नन्द के लला पर मन की लगन लगी रहे।

'लागी नाहीं छूटे राम'— ऐसी लगन भी कहीं छूटती है!

सर्वत्र विद्यमान हैं लाल मूसा के कृष्ण

लाल मूसा अपनी ठेठ उर्दू में ही अपने प्रिय कृष्ण का 'जलवा' व्यक्त करते हैं—

जहाँ देखा, वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।
उसी का सारा जलवा इस जहाँ में आशकारा है॥

— कि मेरा कृष्ण तो जहाँ देखो वहीं विद्यमान है— 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है'। समस्त संसार में उसी का तेज, उसी का प्रताप आलोक विखेर रहा है।

सारे संसार में एकमात्र श्री कृष्ण की ही विभुता-प्रभुता का दर्शन करने वाले मियाँ लाल मूसा को राष्ट्रीय अस्मिता और 'स्व' के सन्दर्भ में किस श्रेणी में रखेंगे ? निश्चय ही उनकी यह भक्तिभावना वस्तुतः भारत-भक्ति का ही पर्याय है।

'मेरा कन्हैया तो है मुझी में'— आज़ाद अजीमाबादी

आज़ाद अजीमाबादी तो मौलाना थे, किन्तु श्री कृष्ण की बाँसुरी के कैसे पारखी प्रेमी और अपनी कृष्णभक्ति पर कबीर, रैदास की भाँति कितने दृढ़ विश्वासी कि कहते हैं—

बजाने वाले के हैं करिश्मे, जो आप हैं महव बेखुदी में।
न राग में है, न रंग में है, जो आग है उन की बाँसुरी में॥
हुआ न गाफिल, रही तलाशी, गया न मथुरा, गया न काशी।
मैं क्यों कहीं की खाक उड़ाता, मेरा कन्हैया तो है मुझी में॥

— 'आपने अपना आपा खो दिया, भूल गये सुध-बुध, तो यह चमत्कार तो उस बाँसुरी बजाने वाले का है। यह आज़ाद कभी शिथिल, लापरवाह नहीं हुआ। ढूँढता रहा अपने प्रभु

को, किन्तु तीर्थों की खाक छानता नहीं रहा क्योंकि इसने देख लिया कि मेरे कृष्ण तो मुझ में ही हैं।' कबीर भी तो यही कहते थे— 'तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों पुष्पन में बास।'

वेदान्त-दर्शन से जुड़ कर कृतार्थ हो गये मौलाना आज़ाद अजीमाबादी।

महबूब मियाँ की गो-भक्ति

कवि महबूब मियाँ न केवल कृष्णभक्ति, अपितु गोभक्ति में भी पीछे नहीं हैं। श्रीकृष्ण के गो-चारण तथा गो-सेवा का चित्रण वे अपने सरल शब्दों में पूरी आस्थापूर्वक करते हैं। श्री कृष्ण ने वृन्दावन में गायों को चराने के पश्चात् घर लौटते समय मार्ग रोककर सब गायों को घेर लिया और उनकी गिनती करने लगे कि कहीं कोई वन में छूट तो नहीं गयी। 'धौली!', 'कजरी!', 'श्यामा!' इत्यादि नामों से उनको पुकार-पुकार कर आगे खड़े कृष्ण उन्हें गिन रहे हैं—

आगे-आगे धेनु घेरी वृन्दावन में हरि ने।
टेर-टेर, बेर-बेर, लगे गाय गिनने॥

यही नहीं, वे उन्हें चूम-पुचकार कर और अपने अंगोछे से पोंछ कर गायों के चरण छूते हैं तथा स्नेहसिक्त मधुर वाणी से बुलाते हैं—

चूम-पुचकार, अंगोछे से पोंछ-पोंछ,
छूते हैं गो के चरन, बुलावें सुवचन ते।

गो-पाल, गो-सेवक कृष्ण का कैसा सेवाव्रती चरित्र दर्शाया है महबूब मियाँ ने! क्या ऐसा मनुष्य मुसलमान होकर भी गोहत्या जैसे जघन्य कर्म की अनुमति दे सकता है ? यह है राष्ट्र की मूल धारा में समरस मानस।

सैयद मुर्तजा का हरि-चरण में निवेदन

बंगला कवि सैयद मुर्तजा राधा की प्रार्थना के बहाने भगवान् कृष्ण के चरणों में निवेदन करते हैं—

मोरे कर दया, देह पद-छाया, शुन-शुन परान कानू,
कुल-शील सब भयाहनू जले ना जीयब तुया बिनू।
सैयद मूर्तुजा भणे कानूर, चरणे निवेदन शुन हरि !
सकल छाड़िया रहित, तूया पाये जीवन-मरण भरि॥

—सुनो-सुनो हे प्राण कान्हा! मुझ पर दया करके मुझे अपने चरणों की छाया प्रदान करो तुम्हें पाने के लिए मैंने अपना कुल-शील सब छोड़ दिया है, डुबा दिया है जल-राशि में

सैयद मुर्तजा कहता है कि हे हरि! अपने चरणों में मेरा यह निवेदन सुनो, अब तो जीवन-मरण सब तुम्हारे चरणों में ही है। तुम्हारे बिना जीवन नहीं।

निजामुद्दीन के 'हरि बिनु और न कोय'

सैयद निजामुद्दीन उर्फ 'मीरमधनायक' १६ वीं शताब्दी में हुए। लिखते हैं—

हमारे हरि बिनु और न कोय!

इन सारे शब्दों में हरि-प्रेम उजागर है सैयद साहब का।

'मुबारक' की फरियाद

कवि 'मुबारक' के उद्गार हैं—

हरि हो, हरि हो, हरि हो गति मेरी!

भगवान् राम, कृष्ण (दोनों विष्णु के अवतार) और शिव तथा अन्यान्य देवताओं के श्रद्धालुओं में सम्मिलित मुसलिम समुदाय के लोगों की यह नामावली और भी बड़ी है। यहाँ तक और इससे आगे भी जिनके बारे में थोड़ा-बहुत विस्तार से चर्चा की जा सकी है, उनके अतिरिक्त भी कवि नफीस साहब, यारी साहब (यार मुहम्मद), मोहम्मद बाबा, सैयद हुसैन, वंशी अली के शिष्य अलबेली अली (विष्णुस्वामी सम्प्रदाय), पाटन (गुजरात) के संतदीन दरवेश, राजस्थान के जमाल मियाँ, अजमेर (राजस्थान) के मोहम्मद याकूब 'सनम', उत्तर प्रदेश में दरियाबाद (बाराबंकी) के कासिमशाह, रुदौली (बाराबंकी) के शेख अब्दुल कद्दूस, मऊ दौसपुर (जौनपुर) के शेख नबी, शाहगंज (जौनपुर) के नूर मुहम्मद, शेखपुर (अवध) के शेख निसार, पिहानी (हरदोई) के कादिर बख्श, बिलग्राम (हरदोई) के सैयद मुबारक अली, आगरा के नजीर मियाँ, बिहार के मीर साहब, बंगाल के चांद काजी, जबलपुर (मध्य प्रदेश) के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक जहूर बख्श, ग्वालियर (मध्य प्रदेश) के एनबुल्लाशाह, घारूल (महाराष्ट्र) के बकर कसाब, गजनी-निवासी दातागंज बख्श (अली हिजोरवी) इत्यादि अनेक नाम हैं जो श्री राम और श्री कृष्ण के अनुरागियों में गिनाये जा सकते हैं। भारतीय संस्कृति के इस पावन प्रवाह में अवगाहन करने वाले और राष्ट्रीय मुख्यधारा को सबल करने में विश्वास रखने वाले वर्तमान काल के मुसलिम महानुभावों की भी लम्बी सूची है जिस पर यदि चर्चा करें तो वह अलग से एक पूरी पुस्तक की सामग्री होगी।

मोहन की बाँसुरी के भक्त नज़ीर

काशी के जाने-माने उर्दू के शायर हाजी मुहम्मद नजीर उर्फ 'नजीर बनारसी' प्रसिद्ध शायर हैं। वे कहते हैं— "मैं उर्दू की जेहनियत हिन्दुस्तानी चाहता हूँ। उर्दू की परवरिश हिन्दू घरानों से ही हुई है। और अब तो उर्दू देवनागरी लिपि में भी, जिसे मुकम्मल, अजर-अमर लिपि माना जाता है, आ गयी है। इसलिए हिन्दी के बल पर उर्दू रहेगी। अरसे से कट्टरपंथी लोग उर्दू को अरबी-फारसी की बेटी मानते रहे हैं— वह उर्दू जरूर संकट में है जिस पर अरबी-फारसी लाद दी गयी थी और जो हिन्दुस्तानी जनता के काम की नहीं थी, इसीलिए उसके हिमायती चिल्लाने लगे हैं।"

भाषा के प्रति जिनका इतना स्वस्थ दृष्टिकोण है, वे भला श्री कृष्ण को कैसे बरतरफ रख सकते हैं। 'नजीर बनारसी' ने लिखा — 'नजीर बनारसी के कृष्ण!'

मोहन की बाँसुरी के मैं क्या-क्या कहूँ जतन।
लय उसकी मन की मोहिनी, धुन उसकी चित हरन॥
उस बाँसुरी का आन के जिस जाँ हुआ बचन।
क्या जल-पवन 'नजीर', पखेरन व क्या हिरन॥
सब सुनने वाले कह उठे— "जै-जै हरी-हरी।"
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बाँसुरी॥

यह है 'नजीर' की उर्दू— भारतीयता और राष्ट्रीयता में पगी हुई। 'जल, पवन, मोहिनी, चितहरन' जैसी शब्दावली से उनका लगाव है। अरबी-फारसी का कहीं नाम नहीं और गाये जा रहे हैं कृष्ण की वंशी के गुण! गोरखपुर जिले में 'बाबा राघवदास डिग्री कालेज' है। वहीं पास में एक स्थान पर बाबा ने हुतात्मा पं० रामप्रसाद 'बिस्मिल' की कुछ अस्थियाँ और भस्मी लाकर श्रद्धा अर्पित की थी अंग्रेजों से छिपाकर। 'बिस्मिल' गोरखपुर जेल में ही फाँसी पर चढ़े थे। अत: वहीं एक दिन 'काकोरी केस' के कई क्रांतिकारी जुटे थे श्रद्धांजलि कार्यक्रम में। महीना दिसम्बर का ही था। उसमें अपनी शायरी पढ़ने 'नजीर' भी आये थे काशी से। मेरे कमरे की बगल में ही ठहरे थे। वार्ता हुई उनसे और उनके विचार तथा उक्त शायरी भी सुनी तब। क्या कहने हैं 'नजीर बनारसी' के! सोचा— काश! हिन्दुस्थान का हर मुसलमान और शायर 'नजीर' की भाँति होता!

ताज, रसखान, रहीम, आदिल से एकरस है नजीर की वाणी भी। वह उनसे जुदा नहीं।

महाभारत-प्रेमी नासिर खाँ

सन् १३२५ की बात है, उन दिनों बंगाल का शासक था नासिर खाँ (बंगला में 'नसरत खान')। उसे न अरबी समझ में आती थी न फारसी, वरन् मातृभाषा की भाँति वह बंगला भाषा में ही बात करता। बंगला भाषा की ही पुस्तकें मँगा-मँगा कर पढ़ा-गुना करता।

एक दिन उसने एक बंगला ग्रंथ में ही पढ़ा— ''महाभारत' में लिखा है कि 'बंगदेश' (बंगाल) बहुत पुराना बसा हुआ है। प्राचीन युग में इसी को पंचगौड़ कहते थे, तब इसकी सीमा अवध (अब उत्तर प्रदेश) की विध्यपर्वतमाला से लेकर प्राग्ज्योतिषपुर (असम) तक फैली हुई थी। इस का नाम 'बंग' इसलिए पड़ा कि जब यहाँ का राजा बलि था तो उसके पाँच पुत्र हुए—अंग, बंग, कलिंग आदि— और बलि के बाद 'बंग' ही 'पंचगौड़' का राजा हुआ। बंग की माता का नाम था सुदेष्णा।'

अपने राज्य का यह विवरण पढ़कर नासिर खाँ की प्रबल इच्छा हुई कि 'महाभारत' को भी पढ़ा जाये। परन्तु वह तो संस्कृत में था, नासिर खाँ उसे कैसे पढ़-समझ पाता ? अत: उसने सत्वर कई संस्कृत के उपाध्याय बुला भेजे। उसके हरकारे जब उन उपाध्यायों के पास पहुँचे तो पंडितगण डरे कि शायद नासिर खाँ किसी कारण उन्हें दंडित करना चाहता है या कौन जाने वह उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य करे। मरता क्या न करता। राज्यादेश था, उदास-उदास उपाध्यायगण नासिर खाँ के दरबार में उपस्थित हुए। किन्तु वे यह देख कर चकित हुए कि नासिर खाँ ने खड़े होकर उनको अभिवादन किया और अपने हाथों उच्चासन पर बैठाया, फल-ताम्बूल सेवन कराये, कुशल-क्षेम पूछी, मुद्राएं और वस्त्रादि भेंट किये, फिर कहा— ''आप लोग यदि मेरा एक काम कर सकें तो बड़ा उपकार हो।''

पंडितों ने सोचा, बोल तो मधुर ही है, अवश्य कोई रहस्य की बात है। कहीं यह भेंट-उपहार महँगा न पड़ जाये। उन्होंने पूछा— ''आप राजा हैं, धन-बल, जन-बल, सभी कुछ आपके पास है, फिर भी कहिए हम आपके किस काम आ सकते हैं ?''

नासिर खाँ ने कहा— ''आप लोग संस्कृत के विद्वान् हैं। मैं चाहता हूँ कि आप 'महाभारत' का अनुवाद बंगला में कर दें जिससे मेरे सरीखे लोग भी 'महाभारत' पढ़-समझ सकें जिन्हें संस्कृत भाषा नहीं आती।'' पंडितगण अवाक् कि यह मुसलमान शासक भला 'महाभारत' पढ़ने का इतना इच्छुक क्यों है ? बोले— ''यह तो हमारे लिए सुखद समाचार है, हम अवश्य 'महाभारत' को बंगला भाषा में लिखेंगे।'' उन्होंने अनुवाद-कार्य प्रारम्भ कर दिया। जब वह पूर्ण हो गया तो नासिर खाँ बहुत प्रसन्न हुआ। उन्हें भरपूर दक्षिणा दी और भूमि भी प्रदान की। बंगला के कवीन्द्र परमेश्वर ने लिखा है—

श्रीयुक्त नृपति से जे नसरत खान। रचाइल पांचाली ने मुखर निदान।

'मृगावती' काव्य-कथा के प्रणेता—कुतबन मियाँ

कुतबन मियाँ चिश्ती वंशज शेख बुरहान के मुरीद (शिष्य) थे। निवासी थे जौनपुर के तथा जौनपुर के ही तत्कालीन शासक हुसैनशाह शर्की के दरबार में रहते थे।

हुसैनशाह को सन् १४८८ में बहलोल खाँ लोदी ने जौनपुर से सिंहासनच्युत कर दिया। सिकन्दर लोदी से उसका युद्ध हुआ और उसे जान के लाले पड़ गये तो वह जौनपुर छोड़कर बंगाल चला गया। वहाँ के शासक का नाम भी हुसैन शाह था। उसी के पास जाकर जौनपुर वाला हुसैनशाह भी रहने लगा। कुतबनमियाँ भी बंगाल चले गये हुसैनशाह के साथ। वहीं बंगाल के हुसैनशाह के प्रोत्साहन से कुतबन ने 'मृगावती' काव्य-कथा की रचना की। बंगाल का हुसैनशाह हिन्दू धर्म से भी प्रेम करता था, वरन् 'सत्यपीर' संप्रदाय का संस्थापक भी था, जिसे कट्टरपंथी मुसलमान मान्यता नहीं दे सकते थे।

इस हुसैनशाह के ही सत्संग तथा संपर्क से कुतबन ने उस हिन्दू कथा को काव्य रूप दिया जिसका नायक चन्द्र-नरेश गणपति देव का पुत्र है तथा नायिका उसकी प्रणयिनी है कंचननगर के नृपति रूपमुरारि की पुत्री मृगावती। एक दिन योगी बनकर वन-वन भटकते उस राजकुमार को एक लड़की एक राक्षस के चंगुल में पड़ती दिखाई दी तो उसने उसकी राक्षस से रक्षा की। लड़की का नाम था रुक्मिणी। उसका पिता उसे राजकुमार के साथ ब्याह देता है। १२ वर्ष बाद राजकुमार मृगावती को प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् शिकार करते हाथी की पीठ पर से गिर कर जब राजकुमार दिवंगत होता है तो दोनों रानियाँ चिता में उसके शव के साथ ही सती हो जाती हैं। कुतबन लिखते हैं—

विधि कर चरित न जानै कस आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥
गंग तीर लैके सर रचना। पूजा अवधि कहो जो बचना।

यह शुद्ध अवधी है तथा मूल भावना हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू धर्म-दर्शन से समन्वित है।

कुतबन ने बंगाल के शाह हुसैन को 'बुधवंत पंडित' तथा 'पुरान' पढ़नेवाला बताया है। यथा—

साह हुसैन अहै बड़ राजा। छत्र सिंहासन उन कहँ छाजा॥
पंड़ित और बुधवंत सयाना। पढ़ै पुरान अरथ सब जाना॥
दान देइ और गनतन आवै। बलि और कंस न सरबरि पावै॥
इन्ह के राज रे हम कहे। नौ सै नौ जो संवत अहे॥

स्पष्ट ही कवि कुतबन मियाँ मुस्लिम होकर भी न केवल हिन्दी के उन्नायक और गायक थे, वरन् हिन्दू जीवन-दर्शन के भी एक महान् चारण थे। उनकी कृति का समुचित मूल्यांकन होना चाहिए।

बारह वर्ष तप के बाद रची शेख मंझन ने 'मधुमालती'

सूफी संत शेख गुफ्तार मंझन ने १२ वर्ष तक भारी तप किया और उन्हें जो आत्म-ज्ञान प्राप्त हुआ, उसके आधार पर 'मधुमालती' काव्य-कथा की रचना की। मियाँ मंझन शेख मुहम्मद के शिष्य थे और 'मधुमालती' में अंकित उनके गद्य तथा उसकी शैली का नमूना यह है—

''इति श्री मधुमालती पोथी समाप्त है, जो संवत् १७४४ समै नाम जेठ सुदी दुजी को तैयार भई बार बुधवार को। पंडितजन सों विनती मोरी। टूटा अक्षर मेखहिं जोरी। गुफ्तार मियाँ मंझन क्रितं राममूलक सहाय लिषितं महिराम।''

मूर्तियों में भी भगवत् रूप भासमान है, इसे मियाँ मंझन यों व्यक्त करते हैं—

देखते ही पहिचानेउँ तोहीं। एही रूप जेकि छंद ग्यो मोहीं।
एही रूप बहुत अहै छपाना। एही रूप रब स्रिष्टि समाना।
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा।

मूर्ति में, प्रतिमा में और सब सृष्टि में रब (ईश्वर) का वही रूप मूर्तिमान है। सारी सृष्टि में नाना रूपों में वही समाया हुआ है। अनेक वेशों में वही प्रकट है। रंक-राव में वही चेतन है। उसके प्रेम का दीप जिसके हृदय में प्रदीप्त हो सका, उसी को समझो जन्म-फल प्राप्त हुआ। किंतु करोड़ों में किसी विरले को ही ऐसा प्रेम-विरह उपजता है। शेख मंझन कहते हैं कि 'यह प्रेम-दीप जिसके मन में प्रकाशित हुआ, उसका आदि-अन्त सर्वस्व आलोकित हो उठता है। परन्तु यह ईश्वरीय प्रेम की पीड़ा करोड़ों में से किसी विरले हृदय में ही प्रज्वलित हो पाती है। कोई-कोई ही यह सौभाग्य प्राप्त कर पाता है जैसे कि सभी वनों में चंदन नहीं होता और न हर सागर में मोतीवाला सीप पाया जाता है—

प्रेम दीप जाके हिय बारा। तो सब आदि-अंत उजियारा॥
जगत जन्म-फल जीवन ताही। प्रेम पीर जिय उपजा जाही॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह दुःख होई॥
रतन कि सागर सागरहि, गज-मोती गज कोइ।
चंदन कि बन-बन उपजै, बिरह कि तन-तन होइ॥

संस्कृत उक्ति 'चंदनं न वने-वने' ज्यों की त्यों अवधी में मंझन ने यहाँ सँजो दी है, इसका अर्थ है कि वे संस्कृत जानते थे। मंझन को स्त्री का सती होना मान्य नहीं, इसलिए उनकी कथा सुखांत है। वे कहते हैं—

उतपति जग जेती चलि आई। पुरुष मारि ब्रज सती कराई।
मैं छोइन एहि मारिन पारे। सही मरिहि जो कलि औतारे।
सती सुनौ संसार सुभाऊ। जो मरि जिए सो मरे न काऊ॥

इसी विचार से प्ररित हो मंझन अपने काव्य की नायिका को सती होने से बचाते हैं। वे कहते हैं, जो सन्नारी मरकर जीती है, उसे कौन मार सकता है ?

शेख मंझन दीवाली का उल्लेख करते हैं—

'सबके सब परब देवरी, मोहि सखी बनवास।''

सिद्ध है, मंझन के कथा-काव्य में पृष्ठ-पृष्ठ पर पारम्परिक हिन्दू जीवन ही मुखरित-रूपायित हुआ है और वह उस काल में किसी मुस्लिम कवि की लेखनी से तब तक साध्य नहीं हो सकता था जब तक वह स्वयं हिन्दू जीवन-दर्शन तथा संस्कृति का अध्येता और उपासक न रहा हो। मंझन की १२ वर्षीय दीर्घ तपश्चर्या तथा जीवन की समस्त साधना 'मधुमालती' के अक्षरों में स्वयं साक्ष्य है कि मुस्लिम होने के बावजूद उन्होंने अपने जीवन में किस धर्म-तत्त्व को आत्सात् किया हुआ था।

मंझन की 'मधुमालती' का नायक किसी मानेसर नगर के राजा 'सूरजभान' का पुत्र मनोहर है और नायिका महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती है।

मंझन जन्मान्तर पर विश्वास करते हैं तथा मनोहर से यह कहलाते हैं कि ''मधुमालती! जब से मैं पृथ्वी पर जन्मा, उसी झण से मेरा हृदय तुम्हारे प्रति अनुरक्त हो उठा क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों से, अनेक जन्मों से मैं तुम्हें प्रेम करता आया हूँ।'' इस्लाम मत के अनुसार तो जन्मान्तर मान्य ही नहीं है, परंतु मंझन उसे मनोहर के प्रेम का कारण बताते हुए तनिक भी झिझकते नहीं, हिचकते नहीं। वे शाप भी मानते हैं, मधुमालती की माता रूपमंजरी से पुत्री को शाप दिलाते हैं और वह उस शाप से पक्षी बन जाती है। फिर जब कुँवर ताराचंद से मधुमालती की माँ मधुमालती का ब्याह करना चाहती है तो ताराचंद कहता है, ''वह तो मेरी धर्म-बहिन है, उसको मैंने वचन दे रखा है कि मैं मनोहर से अवश्य उसकी भेंट कराऊंगा। मैं उससे विवाह नहीं कर सकता।''

वे सगे भाई-बहिन नहीं, फिर भी विवाह नहीं कर सकते, यह मान्यता भी हिन्दू जीवन की ही मंझन ने मुखरित की है। शेख मंझन यह परम्परा भूल भी सकते थे, पर नहीं भूले।

उस जागरूक कवि को कैसे भूला जा सकता है ?

शेख नबी का हिन्दू कथा-प्रवाह

'सब रस पाइ किहेउ सनमाना। जो आनन्द हिय होइ निदाना।'

बिना जाने कौन अनुमान कर सकता है कि आज से पौने चार सौ वर्ष पूर्व ठेठ मुगल दासता के दिनों में यह भाषा उत्तर प्रदेश के ही एक सूफी कवि शेख नबी ने अपनी प्रसिद्ध काव्य-कथा 'ज्ञानदीप' में न केवल अपनायी थी वरन् अपनी इस महान कृति से हिन्दी को समृद्ध बनाने में योगदान दिया था। और नबी ने कथानक भी किस क्षेत्र से संबंधित कल्पित किया, जिसे वे 'नैमिसार' (नैमिषारण्य) कहते हैं। 'ज्ञानदीप' की जानकारी तब हो सकी जब १९०२ ई. में 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' का शोध-वृत्त छपा।

शेख नबी ने कल्पना की कि नैमिसार में राय शिरोमणि नामक एक नरेश थे जिनकी कोई संतान नहीं थी। कालान्तर में शिवजी प्रसन्न हुए तथा राय शिरोमणि की रानी की गोद हरी हुई। राजकुमार का नाम रखा गया ज्ञानदीप। एक बार आखेट करते हुए राजकुमार को महान् समर्थ योगी सिद्धनाथ मिलते हैं। वे उसे वैराग्य की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वह भी योगी हो जाता है। उधर विद्‌यानगर-नरेश सुखदेव की पुत्री देवजानी जब योगीवेशी ज्ञान दीप को देखती है तो अनुरक्त हो जाती है। परन्तु योगी बना ज्ञानदीप देवजानी (देवयानी) की ओर ध्यान नहीं देता, वह समाधिमग्न है। देवजानी की सखी सुरज्ञानी योगी को अपने गायन से जगा देती है तथा देवजानी भी उस पर वशीकरण याकि मोहन मंत्र का प्रयोग करती है। परन्तु समाधिलीन ज्ञानदीप पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। तब राजकुमारी की सखी सुरज्ञानी एक और युक्ति करती है। वह मंत्र-शक्ति से कागज का घोड़ा बनाती है, फिर पार्वती को प्रसन्न करके उनसे उस कागजी घोड़े को जीवन्तता प्राप्त कराती है। तब कहीं योगी रूप में राजकुमार ज्ञानदीप देवजानी की अटारी पर उस उड़न अश्व पर आरूढ़ हो पहुँचता है। फिर वह राजा सुखदेव द्वारा पकड़कर एक नदी में बहा दिया जाता है। आगे ज्ञानदीप मानपुर-नरेश मानस राय के राज्य में शरण पाता है। वियोगिनी देवजानी आत्म-दाह के प्रयास में छलांग लगाती है, परन्तु पार्वती की कृपा से उसकी रक्षा हो जाती है।

उधर शिवजी राजा को सपना देते हैं कि ज्ञानदीप को नदी में बहाकर तुमने ठीक नहीं किया। अतः राजा अपनी पुत्री का स्वयंवर रचाता है जिसमें देवजानी ज्ञानदीप का वरण करती है। कथा लंबी है। आगे भी विस्तार है। किन्तु यहाँ पूरी कथा देने का प्रयोजन नहीं वरन् यह दिखाना है कि उक्त कथा में पूर्णतः हिन्दू जीवन तथा हिन्दू संस्कृति का ही निर्वाह हुआ है या उससे अभिन्न सन्त-नीति का और विशेष यह कि शेख नबी ने इस कथा की स्वयं ही सृष्टि की है— कहीं भी पुराने साहित्य में उसका आधार है नहीं। स्पष्ट है कि शेख नबी हिन्दू जीवन-धारा और हिन्दू संस्कृति से प्रभावित-प्रेरित ही नहीं अपितु अपने आध्यात्मिक संदेश को उसी धारा से एकरूप किये हुए हैं।

वस्तुत: सूफी दृष्टि से देवजानी ही परमपुरुष है— प्रियतम, जिसके पास जीवात्मा ज्ञानदीप को पहुँचना है। योगी सिद्धनाथ गुरुरूप हैं जो जीवात्मा का परमात्मा से मिलन साध्य बना देते हैं। पुण्यात्मा ज्ञानदीप को शिव-उमा की कृपा भी प्राप्त होती है। स्पष्ट ही शेख ने हिन्दू संस्कृति को ही अपनी कथा का आधार बनाया है।

और यही नहीं, शेख नबी को कोयल की कूक सुरीली लगती है, बुलबुल उन्हें कहीं भी याद नहीं आती। स्पष्ट है कि इसी देश की माटी की सुगन्ध उनके मानस में बसी है।

ये जौनपुर (उत्तर प्रदेश) जिले के मऊ ग्राम के निवासी थे। यह गाँव दौसमऊ के समीप है। ये जहांगीर के समकालीन थे।

यह भी संभव है कि ज्ञानदीप की उक्त कहानी लोक-कथाओं या वार्ताओं में कहीं बिखरी पड़ी हो और वहीं से शेख ने उसे चुना हो क्योंकि वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि—

'पोथी बाँचि 'नबी कवि' कही। जे क्छु सुनी कहूँ से रही॥'

कथा का प्रारम्भ होता है ईश-स्तवन से। किसलिए काव्य-कथा रची ? उत्तर देते हैं—

'विनती एक किहेंउ विधि पाहीं। मिटै पाप, पुन्न उपजै ताही॥'

—पाप नष्ट हों, पुण्योदय हो, यही एक विनती विधाता से करते हैं शेख नबी। उनके 'पोथी' लिखने का यही उद्देश्य है।

'शब्द अमर गुन सिंगल मही'

—शब्द तो ब्रह्म है, उसका नाश नहीं है। और—

'वीर सिंगार विरह किछु पावा। पूरन पद लै जोग सुनावा।'

—वीर, शृंगार, विरह आदि रसों के बहाने जो भी मैंने कथा कही, वह उस 'योग' के ही लिए जो मनुष्य को पूर्ण पद प्राप्त कराता है।

शेख नबी का चिन्तन कितने ऊँचे स्तर का है, कितना भारतीय याकि विशुद्ध हिन्दुत्व-निष्ठ, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू दर्शन से समन्वित, यह तथ्य उक्त पंक्तियों में स्वयं मुखरित है, प्रमाणित है।

आज कितने हिन्दी याकि हिन्दू कवि हैं जो मात्र 'योग' के लिए लिखते हैं ? अत: शेख नबी वंदनीय हैं, अभिनंदनीय।

कितनी आस्था थी गीता पर उस मुसलमान संत को !

पंजाब में मुसलमानों में एक फकीर थे मियाँ मीर, ऐसे निष्पक्ष महात्मा कि उन्होंने मुगलों के अत्याचारों के विरुद्ध सदैव सिख गुरुओं का ही पक्ष लिया और कभी भूलकर भी मुगल शासन की परवाह नहीं की। राजस्थान में ऐसे ही मुसलिम सन्त लालदास हो गये हैं तो दिल्ली में सर्मद और बिहार में दरिया साहब।

ऐसे ही एक फकीर महाराष्ट्र में भी हुए हैं, नाम था मियाँ रुन। विद्वान् थे, पहुँचे हुए संत थे। उनकी संत ज्ञानेश्वर-प्रणीत 'ज्ञानेश्वरी' ग्रंथ के प्रति कितनी गहरी तथा अटूट आस्था थी, उसके साक्ष्य में यहाँ एक ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत है।

'ज्ञानेश्वरी' अमर संत ज्ञानेश्वर द्वारा किया गया श्रीमद्भगवद्गीता का विलक्षण मराठी भाष्य है और बहुत प्रसिद्ध है। उसे प्राय: 'ज्ञानेश्वरी गीता' भी कहते हैं।

महाराष्ट्र के ही महान् भक्त एकनाथ संत ज्ञानेश्वर के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु थे और उनकी ज्ञानेश्वरी गीता को अप्रतिम ग्रंथ मानते थे। उन्होंने एक दिन विचार किया कि ज्ञानेश्वरी का एक सब प्रकार से शुद्ध पाठ (ग्रंथ) तैयार किया जाना आवश्यक है क्योंकि भ्रमवश लोगों ने उसके मूल पाठ में मिश्रण कर डाला है। अतएव एकनाथ उस शुद्धिकरण के कार्य में लगे और 'ज्ञानेश्वरी गीता' की एक अपनी समझ से संशोधित प्रति तैयार की।

पैठण में निवास करते हुए उन्होंने संशोधन का यह काम पूरा किया। उसी पैठण में मियाँ रुन भी निवास करते थे। उन्हें 'ज्ञानेश्वरी' में संशोधन किये जाने का समाचार मिला तो बड़े व्याकुल हो उठे। सोचा, इस प्रकार तो आये दिन जो चाहेगा 'ज्ञानेश्वरी' में फेर-बदल करता रहेगा और इससे उसका मूल पाठ, जो संत ज्ञानेश्वर सरीखे महान् विद्वान् तथा महात्मा की मानवता को पवित्र देन है वह भ्रष्ट भी हो सकता है। अत: उन्होंने अपनी यह मनोव्यथा प्रकट करने की एक निराली ही विधि खोज निकाली।

पैठण में जिस मस्जिद में मियाँ रुन का डेरा था, उसी मस्जिद के सामने से होकर संत एकनाथ प्राय: निकला करते थे। प्राय: वे संध्या समय ही उस पथ से जाते थे।

एक शाम जब वे उस मस्जिद के सामने से निकल रहे थे तो क्या देखते हैं कि मियाँ रुन के सामने एक अच्छी-खासी ऊनी चादर रखी है जो नयी ही लग रही है लेकिन रुन मियाँ उसमें पैबंद पर पैबंद लगाये जा रहे हैं। क्या अर्थ है इसका ?

एकनाथ ठहर गये मस्जिद के दरवाजे के सामने और मियाँ रुन से पूछा कि "साहब ! आप यह क्या कर रहे हैं ? चादर तो अच्छी भली है, फिर उसमें पैबंद लगाकर उसको क्यों खराब कर रहे हैं ?"

मियाँ रुन ने चादर के ऊपर से दृष्टि तो न उठायी किंतु दो टूक उत्तर देने से न चूके। बोले— "मैं यह देखना-परखना चाहता हूँ कि 'ज्ञानेश्वरी गीता' की तरह अगर मैं भी इस

चादर में मनमाने तौर से जोड़-गाँठ करूँ, कुछ नया जोडूँ इसमें तो इसकी क्या शक्ल बनेगी ? तब कैसी लगेगी यह चादर ?''

''तो आप का अभिप्राय मेरे उस संशोधन से है जो मैंने 'ज्ञानेश्वरी' का शुद्ध पाठ तैयार करने में किया है ? क्या वह आपको पसंद नहीं? क्या मैंने उसमें कुछ अनुचित किया ?'' एकनाथ व्यग्र हो उठे थे रुन मियाँ के उत्तर से।

रुन ने कहा— ''मत भूलो एकनाथ ! संत ज्ञानेश्वर जैसे महात्मा हजारों वर्षों में एक बार ही जन्म लेते हैं, इसलिए ज्ञानेश्वरी गीता भी हजारों-लाखों वर्षों में एक बार ही लिखी जाती है। तुम कितने ही बड़े विद्वान् या संत हो सकते हो, लेकिन ज्ञानेश्वर नहीं हो सकते और माना कि तुमने अच्छी किताबें लिखी है, लेकिन 'ज्ञानेश्वरी' तुम भी नहीं लिख सकते।''

इन शब्दों ने एकनाथ जी की आँखें खोल दीं। 'ज्ञानेश्वरी गीता' में कोई परिवर्तन करने या कि उसकी यत्र-तत्र शब्दावली बदलने की बात अब स्वयं उन्हें गर्हित लगने लगी। उन्होंने रुन मियाँ को वचन दिया कि 'ज्ञानेश्वरी' में एक भी शब्द न जोड़ा जायेगा, न उससे हटाया जायेगा।

यही नहीं, एकनाथ ने सभी के लिए यह वर्जना कर दी कि 'ज्ञानेश्वरी गीता' का मूल पाठ ही शुद्ध है–– उसमें किसी को कोई संशोधन करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। यह प्रसंग स्वयं रुन साहब ने भी लिखा है और 'भक्त कथामृत सार' में भी यह प्राप्य है।

मुसलिम कृष्णभक्त 'हरिदास'

वे मुसलमान-परिवार में ही जन्मे थे। उस समय उनका बचपन का क्या नाम रहा था— आज उसको जानने का कोई उपाय नहीं है। मात्र इतना ही वर्णन बंगला भाषा के भक्ति-साहित्य में मिलता है कि वे बंगाल के शांतिपुर-निवासी, संस्कृत के दिग्गज विद्वान् पं. अद्वैताचार्य के केवल शिष्य किंवा छात्र ही नहीं थे वरन् मुसलिम पिता के पुत्र होकर भी हरिदास रहते भी थे स्वयं अद्वैताचार्य के ही मकान में और भोजनादि भी उन्हीं के यहाँ करते थे।

कैसे उदार और मानवता के आदर्शरूप थे अद्वैताचार्य कि उन्होंने कभी उस मुसलमान छात्र के विषय में यह नहीं विचार किया कि वह जबकि मुसलिम परिवार का लड़का है तो फिर हम ब्राह्मण होकर उसे कैसे अपने घर में रखकर भोजन करायें! यह भेद-भाव उन्हें छू नहीं गया था। अवश्य इसके कारण शांतिपुर के अनेक लोग अद्वैताचार्य के विरोधी हो गये, परन्तु आचार्य ने कभी भी हरिदास को लेकर किये जा रहे विरोध तथा निन्दा की परवाह न की। इसके विपरीत उन्होंने पूर्व-पाठशाला छोड़कर एक नवीन पाठशाला आरम्भ की, किन्तु हरिदास को हटाया। वह मुसलमान लड़का मजे से अद्वैताचार्य की पाठशाला में संस्कृत पढ़ता रहा, उन्हीं के घर रहकर भोजनादि करता रहा और जब अद्वैताचार्य रात में अपने घनिष्ठ मित्रों और शिष्यों के साथ बैठकर भजन-कीर्तन करते, उस समय उनका वह मुसलमान छात्र भी अपने गुरु की भजन-मण्डली में शामिल होकर भजन-कीर्तन करता। आयु होने पर उसे अद्वैताचार्य ने शास्त्र पढ़ाने प्रारम्भ किये। एक दिन क्या हुआ कि एक ब्राह्मण-परिवार में श्राद्ध हो रहा था, श्राद्ध-कर्म संपन्न कराने वाले अद्वैताचार्य ही थे। जब ब्राह्मणों को श्राद्ध जिमाने के लिए खाद्य-पदार्थ बन गये और वहाँ आमंत्रित ब्राह्मणों को श्राद्ध का खाद्य परोसने का समय आया तो अद्वैताचार्य ने सबसे पहले श्राद्ध-खाद्यान्न उस अपने मुसलमान छात्र को ही प्रदान किया जिसे अब अद्वैताचार्य 'हरिदास' कहने लगे थे, इसी नाम से उसे आचार्य के अन्य शिष्य भी संबोधित करते थे। उस ब्राह्मण के घर उस दिन श्राद्ध-कर्म में हरिदास को निमंत्रित करने वाले स्वयं अद्वैताचार्य ही थे। यह बात शांतिपुर के ब्राह्मणों को खटक गयी कि कैसा अनर्थ है, इतने बड़े विद्वान् आचार्य होकर एक मुसलमान को निमंत्रित किया श्राद्ध में और फिर सर्वप्रथम उसे ही श्राद्ध का खाद्य भी प्रदान किया! कैसा अंधेर कर रहे हैं अद्वैताचार्य! तभी किसी ब्राह्मण ने यह आलोचना कर भी डाली अद्वैताचार्य के सम्मुख। और भी कई निमंत्रित ब्राह्मण क्रुद्ध होकर जो मन में आया, वही अद्वैताचार्य के विरुद्ध कहने लगे। उस समय परम शांत भाव से अद्वैताचार्य ने वहाँ विद्यमान सभी आमंत्रित ब्राह्मणों को संबोधित करते हुए कहा—

"महानुभावो! मेरा तो विश्वास यह है कि अकेले इस हरिदास को श्राद्ध का खाद्यान्न

जिमाने से सैकड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराने का पुण्य-लाभ यजमान को प्राप्त हो गया। इस हरिदास को श्राद्धान्न जिमाने की महिमा मैं ऐसी ही समझता हूँ।" अद्वैताचार्य शास्त्रों में निष्णात थे, उनके ये उद्गार उस मुसलिम परिवार में जन्मे हरिदास के विषय में सुनकर वहाँ उपस्थित सभी निमंत्रित ब्राह्मण अवाक्-चकित रह गये। कारण, वे यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि अद्वैताचार्य वस्तुतः हरिदास को एक सच्चा कृष्ण-भक्त होने के कारण किसी भी हिन्दू से कम नहीं मानते थे। हिन्दू तो करोड़ों हैं, पर उनमें हरिदास जैसे भगवत्समर्पित कितने हैं ?

आगे चलकर हरिदास की ख्याति उच्च कोटि के सन्त पुरुष के रूप में हो गयी। इससे कुछ लोगों के मनों में ईर्ष्या भी उत्पन्न हुई। ऐसे ही किसी ईर्ष्यालु ने हरिदास को भ्रष्ट और लांछित करने के उद्देश्य से एक रूपवती वेश्या को धन देकर नियुक्त किया। सायंकाल अंधेरा होने के बाद वह हरिदास की कुटी में पहुँची और अपनी बातों तथा हाव-भाव से उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी। हरिभजन में लगे हरिदास के पास कहाँ समय था कि उसकी ओर ध्यान दे पाते! उन्होंने उसे बैठने के लिए कह दिया और स्वयं भजन-कीर्तन करते रहे। ऐसे ही सारी रात बीत गयी तो गाणिका उठकर चली गयी। दूसरे दिन उसने फिर प्रयास किया, परन्तु फिर वही हुआ और प्रातःकाल उसे निराश लौटना पड़ा। तीसरे दिन भी वह बैठी हुई भक्त हरिदास को कीर्तन करते देखती रही। किन्तु तीन दिन तक ऐसे महान् सन्त के सत्संग से गणिका के मन का सारा कल्मष धुल गया। उसने सन्त के चरणों में गिरकर क्षमा माँगी, अपने कल्याण का उपाय पूछा और पाप कर्मों को सदा के लिए त्यागकर भगवद्भक्ति में लग गयी।

ऐसे थे हरिभक्त हरिदास जो जन्मे तो मुसलिम परिवार में, किंतु पारस के समान सद्गुरु के स्पर्श से केवल स्वर्ण बनकर ही नहीं दमके वरन् स्वयं पारस बन गये।

साईं बाबा ने कहा— 'यह मस्जिद नहीं, द्वारिका माई है'

"आओ हम लोग आज विठोबा का कीर्तन करें। पंढरपुर-मंदिर के दरवाजे खुले हैं।" मस्जिद साईं बाबा के इस आह्वान से गूँज उठी। आज सहसा ही साईं बाबा ने विठोबा के भजन-कीर्तन की इच्छा प्रकट की थी। वैसे इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी न था। साईं बाबा यद्यपि मस्जिद में ही बहुत समय से रहते थे, लेकिन उस मस्जिद में शंख, घंटा, झाँझ-करताल आदि हिन्दू-वाद्य प्रतिदिन बजते रहते थे। यही नहीं, साईं बाबा कभी-कभी कह उठते थे— "मुझे गीता का अमुक श्लोक सुनाओ।" फिर उसके अर्थ पर घंटों चाव से चर्चा करते रहते थे।

साईं बाबा ने स्वयं कई गिरे-पड़े जीर्ण हिन्दू-मंदिरों का सुधार राजगीर लगवाकर करवाया था। उनमें शंकर, गणेश, पार्वती, हनुमान् आदि के मंदिर थे। हिन्दू देवी-देवताओं या उनके मंदिरों का अपमान-तिरस्कार उन्होंने कभी सहन नहीं किया।

अपने किसी शिष्य से कह दिया करते थे— "राजाराम! राजाराम! जपा करो" तो किसी से कहते थे— "ज्ञानेश्वरी गीता का पाठ किया करो।" यों, स्वयं बात-बात में कह उठते थे— "अल्लाह मालिक!" किन्तु उनका यह संबोधन मात्र उच्चारण तक ही सीमित था— भारतीय संस्कृति या हिन्दुत्व से उसका कहीं कोई विरोध नहीं था। वरन् देखा यह गया कि मुसलमान की भाँति रहते हुए भी उनके जीवन में हिन्दुत्व ओत-प्रोत था। ऐसे संत के मुँह से 'विठोबा' के भजन की इच्छा भला कैसे आश्चर्यकारक हो सकती है!

सो, उस दिन साईं बाबा देर तक 'विठोबा' का भजन करते रहे थे। भजन की पहली पंक्ति वे स्वयं आरम्भ करते थे, बाद में वहाँ समुपस्थित लोग उसे दुहराते चलते थे। साईं बाबा गा रहे थे—

"पंढरपुर ला जाया चें"

"पंढरपुर ला जाया चें"— साथ के लोगों ने दुहराया।

"तिथें च मजला राह्याचें"— साईं बाबा ने अगली पंक्ति कही। इसकी भी पुनः आवृत्ति हुई।

"घरतें माझ्या रायाचें"— बाबा ने कहा और मस्जिद में बैठे अन्य लोगों ने झूमकर दोहराया।

इस मराठी पद का अर्थ है— "मैं पंढरपुर (एक प्रसिद्ध तीर्थ) जाकर रहूंगा क्योंकि वहीं मेरे परमप्रभु का घर है।"

दोहरानेवाले लोगों के नाम हैं—अप्पाजी शिंदे, काशीराम और महालसापति आदि।

साईंबाबा उक्त भजन तन्मय होकर कर ही रहे थे कि एक सज्जन बाहर से आये, नाम था — नानासाहब चांदोरकर। उन्होंने आते ही साईंबाबा से मनुहार की— "बाबा!

मेरे साथ पंढरपुर पधारने की कृपा करें। अब आप वहीं रहियेगा।''

नाना साहब के साथ उनके बाल-बच्चे भी आये थे। वस्तुत: उनका स्थानान्तरण खान देश से पंढरपुर को हो गया था। अभी-अभी चले ही आ रहे थे पंढरपुर के लिए कि मन में आया, बीच में साईं बाबा से मिलते चलें। वे साईं बाबा के श्रद्धालुओं में से थे। अभी वे मार्ग में ही थे कि साईं बाबा ने स्वयं पंढरपुर के विठोबा (पण्ढरीनाथ) के भजन की कामना की और भजन में संलग्न हो गये। नाना साहब ने आकर जब साईं बाबा से पंढरपुर चलने का आग्रह किया तो वहाँ बैठे लोगों ने कहा— ''आपके आने के पहले से ही बाबा का मन विठोबा के ध्यान में मग्न है।''

इस घटना को साईं बाबा का एक चमत्कार ही माना जाता है।

साईं बाबा ने अपनी सुन्नत नहीं करायी थी। मस्जिद को वे सदैव ''द्वारिका माई'' कहते थे। अपने माथे पर चन्दन, त्रिपुण्ड आदि लगाये जाने से प्रसन्न होते थे।

एक बार की घटना। पूना की एक बहिन थीं श्रीमती काशीबाई कानेटकर। सुशिक्षिता थीं। उन्होंने आपस में चर्चा प्रारम्भ की कि 'वस्तुत: साईं बाबा किस मत के हैं ? वे वाममार्गी तो नहीं हैं या कि ब्रह्मवादी हैं ?'

एक बार वे स्वयं साईं बाबा से मिलने पहुँचीं। अभी वे मस्जिद के द्वार पर ही थीं कि साईं बाबा लपक कर वहीं दौड़े गये। अप्रसन्नता का भाव दिखाते हुए काशीबाई से बोले— ''सुनो! यह मस्जिद है ब्राह्मण की। शुद्ध ब्राह्मण की। यहाँ कोई वाममार्गी घुसने की जुर्रत नहीं कर सकता। मैं ब्राह्मण हूँ। क्या मैं यहाँ कभी किसी वाममार्गी को आने दूंगा ?''

काशीबाई चकित थीं। साईं बाबा का कथन उन्हीं की शंका का समाधानकारक उत्तर था। बाबा से मन की बात कभी कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वे सिद्ध पुरुष थे। सब का कष्ट, सबके समाचार अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही जान-समझ जाते थे, भले ही आज अनेक लोग इस पर विश्वास करें न करें।

वे यौगिक क्रियाओं में निष्णात थे। नेती, धौती आदि क्रियाएं वे करते रहते थे। धौती सप्ताह में दो बार करते थे। धौती-क्रिया से आँतें स्वच्छ हो जाती हैं। कहते हैं, साईं बाबा इस क्रिया के द्वारा अपनी आँतें एकदम बाहर ही निकाल लेते थे; उन्हें अच्छी प्रकार साफ करके बरगद के पेड़ पर टाँग दिया करते थे ताकि सूख जायें। हरएक के लिए यह साध्य नहीं। योगीजनों की बात दूसरी, उसकी नकल बिना योग्य प्रशिक्षक या गुरु के नहीं करनी चाहिए।

साईं बाबा का शरीर उनके अपने वश में था। लचीला था। वे जब चाहते थे, अपने पूरे शरीर के अनेक टुकड़े अलग-अलग करके इतस्तत: डाल देते थे। यह योग-क्रिया शस्त्र द्वारा नहीं होती। इच्छा मात्र से शरीर के जोड़ों से हर अंग अलग हो जाता है। प्रत्यक्षदर्शी जब कभी साईंबाबा के शरीर को टुकड़ों-टुकड़ों में छितरा देखते थे, घबरा जाते थे। किसी-

किसी ने सोचा, शायद साईं बाबा की हत्या कर डाली गयी है, लेकिन कुछ ही क्षणों के बाद वह यह देखकर चकित रह जाता था कि साईं बाबा तो सशरीर स्वस्थ बैठे हैं। शरीर का कोई भी भाग अलग नहीं है। आज के समय में लोग इसे गप्प ही समझेंगे।

मैंने बचपन में इसी प्रकार के एक अन्य सिद्ध पुरुष के बारे में बहुत कुछ सुना है, किंतु तार्किक संस्कार रहने के कारण लंबे समय तक ऐसी घटनाओं पर विश्वास नहीं किया। वे एक निहंग साधु थे। उत्तर प्रदेश में थी उनकी कुटिया। अब उनका शरीर नहीं है। नाम था बख्तावर बाबा।

इसी कोटि के एक सिद्ध महात्मा की बात राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण से अलंकृत वेदज्ञ पंडित सातवलेकर जी ने लिखी है। व्याकरण और विज्ञान उन महात्मा के हस्तामलक थे। सातवलेकरजी गीता पर भाष्य लिख रहे थे। एक स्थान पर अटक रहे। बहुत सोचा, गाड़ी आगे नहीं बढ़ी। श्लोक था— ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'' (अर्थात्) कृष्ण कहते हैं— ''हे अर्जुन! सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सब पापों से छुटकारा दिला दूंगा।'' यही बात तीन हजार वर्षों बाद एक दिन ईसा ने दुहरायी थी। सातवलेकर जी को इस श्लोक का रूढ़ अर्थ तो चाहिए नहीं था। व्युत्पत्ति के फेर में भ्रमित हो गये। वे बैठे थे पारडी (सूरत) में। उक्त साधु धूनी तापते बैठे थे दूर नर्मदा-तट-स्थित मान्धाता नाम के स्थान पर। अचानक साधु का पत्र सातवलेकर जी को मिला। पता देकर कहा गया था— ''यहाँ चले आओ, शंका दूर हो सकेगी।'' वे गये। साधु को गांजा पीते देख कर निराश हुए। यों भी साधु-सक्खड़ों पर उन्हें कोई आस्था नहीं थी। किन्तु आश्चर्य! साधु ने सातवलेकर जी को शब्द-व्युत्पत्ति का जो मर्म समझाया उससे उनकी हृदय-ग्रंथि खुल गयी। घर लौटकर उसी आधार पर उन्होंने पुनः लिखना प्रारम्भ किया। पूरा ग्रन्थ ही लिख डाला। फिर कभी कठिनाई नहीं पड़ी। कहने का तात्पर्य यह कि कहाँ, किस वेश में सच्चे तत्त्वज्ञ का वास है, कहा नहीं जा सकता। वे कभी आत्म-प्रचार नहीं करते। अहंकार ही मनुष्य को आत्म-प्रसिद्धि की ओर प्रेरित करता है। एक तथाकथित बड़े प्रसिद्ध 'सन्त' को मैंने देखा कि ट्रेन की प्रथम श्रेणी के द्वार पर खड़े होकर फोटो खिंचवा रहे हैं। सुनहले हारों से शोभित है उनका कण्ठ। पोज बढ़िया आये, इसके लिए उन्हें सचेष्ट देखा। यहाँ किसी की निन्दा-स्तुति मेरा मंतव्य नहीं। तथापि चाहूंगा कि साधु वेष से सीधे-सरल लोग ठगे न जायें।

हिन्दू राष्ट्र में पंथ-संप्रदाय-भाषा-भेद बाधक नहीं है। किस प्रकार नहीं है— इसी के लिए साईं बाबा का नाम आलोकपूर्ण उदाहरणस्वरूप (मिसाल और मशाल) प्रस्तुत किया है कि कितने मुसलमान हैं जो स्वयं को 'राष्ट्रीय' घोषित करने के बाद 'मस्जिद' को 'द्वारिकामाई' कहने का साहस कर सकते हैं ? साईं बाबा की भाँति मस्जिद में प्रतिदिन चक्की पीस कर अपने लिए आटा कौन तैयार करेगा ? कौन पीर-औलिया है जो साईं बाबा की भाँति अपने साथ एक गलित कुष्ठ-रोगी को मस्जिद में रखेगा ? कुष्ठ-रोगी थे

'भागोजी', कोढ़ का मवाद उनके घावों से रिसता रहता। मस्जिद को 'द्वारिकामाई' बताने वाले की श्रद्धा कभी मंदिर तोड़ने नहीं जायेगी और न फिर ऐसी मस्जिद से बम फैंके जायेंगे। वह श्रद्धा मस्जिद के सामने बाजा बजाये जाने पर दंगा-फसाद और रक्तपात नहीं करेगी, वरन् मस्जिद के अंदर भी राम, कृष्ण और नारायण का कीर्तन करेगी।

साईं बाबा के जीवन का एक और दृष्टान्त प्रस्तुत है।

वे 'विष्णु सहस्त्रनाम' को बड़ा सम्मान देते थे। 'विष्णु सहस्त्रनाम' का पाठ आज भी करोड़ों हिन्दू प्रतिदिन करते हैं। कहते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसका नित्य पाठ करते थे। साईं बाबा का कहना था कि ''एक बार जब मैं बहुत बीमार हो गया और ऐसा लगा कि अब अन्तिम समय आ गया है, उस क्षण मैंने 'विष्णु सहस्त्रनाम' की छोटी सी पुस्तक उठायी और अपनी छाती पर रख ली— ठीक दिल के पास। अहा! उस क्षण मुझे जितना सुख मिला, शब्दों में बता नहीं सकता। ऐसा अनुभव हुआ कि खुद अल्लाह मालिक आकर मेरे पास खड़े हो गये हैं, दिल पर उन्हीं का हाथ रखा है और मुझे मरने से बचा लिया है।''

यह है राष्ट्रीय दृष्टिकोण। मजहबी दीवार तक इसे सीमित करना उचित न होगा। जो विष्णु है, वही अल्ला है और जो राम है वही रहीम है। इसलिए 'विष्णु सहस्त्रनाम' की पुस्तक साईं बाबा के लिए प्रत्यक्ष अल्लाह की मौजूदगी साबित हुई। राम-रहीम एक ही है, यह नारा लगाना और बात है, अपने जीवन में—बर्ताव में—प्रत्यक्ष उतार कर साईं बाबा ने दिखाया। यों, उनका तकियाकलाम था 'अल्लाह मालिक'। साईं बाबा ने 'श्री विष्णुसहस्त्रनाम' की उक्त गरिमा-महिमा उस समय बतायी जब उन्होंने एक तरुण को स्वयं अपने हाथों 'विष्णु सहस्त्रनाम' की एक प्रति उठा कर दी। उस तरुण का नाम था 'शामा'। कुछ विशेष पढ़ा-लिखा नहीं था। संस्कृत बिल्कुल ही नहीं जानता था। 'विष्णु सहस्त्रनाम' संस्कृत में है। एक बार एक वैष्णव साईं बाबा के पास आकर ठहरा। वह भी उसी मस्जिद में रहने लगा। उसके पास 'विष्णु सहस्त्रनाम' की एक प्रति थी। मस्जिद में रहते हुए वह प्रतिदिन उसी का पाठ करता था। साईं बाबा ने उसे पाठ करते सुना। प्रसन्न हुए। सोचा, किसी प्रकार शामा को भी इसका पाठ करना आ जाय तो उसके लिए लाभकर होगा। शामा पर साईं बाबा की कृपा थी, लेकिन वह कुछ विशेष ध्यान न देता था। उसकी आयु भी कम थी।

बाबा के आग्रह से शामा ने पुस्तक रख ली। वैष्णव आया तो शामा से नाराज होने लगा कि ''मेरी पुस्तक तुमने किसलिए ले ली ?'' साईं बाबा ने उसे समझाया— ''देखो भाई ! तुम्हें तो सब जबानी याद है। इसलिए बिना इसके भी रोज पाठ कर सकते हो। शामा नादान है, पढ़ा-लिखा नहीं। बच्चा है, संस्कृत पढ़ने में हिचकता है। पुस्तक मैंने ही उसे दी है ताकि इसके पवित्र पाठ से इसकी जिन्दगी बन जाय। क्या इस बच्चे का भला तुम वैष्णव होकर भी नहीं चाहते ?''

साईं बाबा के शब्दों से वैष्णव शांत हो गया। उसने शामा ने कहा— "अच्छा, इसके बजाय तुमको मुझे 'पंचरत्नी गीता' की प्रति लाकर देनी होगी।"

शामा प्रसन्नता से बोला— "दूंगा।"

साईं बाबा ने शामा को श्रीविष्णु सहस्रनाम के अर्थ का भी अभ्यास करा दिया। यहाँ तक कि कालान्तर में एक दिन लोगों ने देखा कि वही शामा महाशय मस्जिद में किसी सुविज्ञ की भाँति एक आगत सज्जन को 'विष्णु सहस्रनाम' की व्याख्या समझाने में लगे हैं। ये आगत सज्जन थे प्रोफेसर जी. जी. नरके, पूना के इंजीनियरिंग कालेज में नियुक्त थे।

साईं बाबा ने मृत्यु-पर्यन्त हिन्दू धर्म-ग्रन्थों को सम्मान दिया, सबको उनके अध्ययन-मनन का आग्रह किया। एक दिन शामा को 'एकनाथ-भागवत' मिल गयी। वह काका महाजनी नाम के एक सज्जन की थी। शामा वह भागवत लिये हुए साईं बाबा के पास गये तो बाबा बड़े प्रसन्न। पूछते हैं— "क्या है ?"

"एकनाथ-भागवत।"

बाबा ने चट हाथ बढ़ाकर उसे ले लिया। लगातार कई पन्ने पढ़े। फिर शामा से कहा— "यह दिव्य ग्रन्थ है। इसको पढ़ो-समझो।"

शामा ने कहा— "बाबा! यह मेरा नहीं, काका साहब का है।"

"अरे नहीं, अब तो मैंने दिया है इसे। रखो, तुम्हारे लिए बड़ा हितकारी है।"

इसी प्रकार उसकी दूसरी प्रति आने पर जब उन्हें भेंट की गयी तो उन्होंने काका महाजनी से कहा— "चलो, यह पोथी तुम्हें प्रकाशमय जीवन तक पहुँचाने में दीपक का काम करेगी।"

एक थे बापू साहब जोग। ये एक दिन साईं बाबा से मिलने मस्जिद पधारे, तो उनके हाथ में लोकमान्य तिलक का ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' था। बाबा देखते ही ललक उठे। पूछा— "कौन-सा ग्रंथ है ?" ग्रंथ संवेष्ठित (बण्डल में पैक) था। जोग जी ने ग्रन्थ निकाल कर बाबा को दे दिया। साईं बाबा श्रद्धया उसमें कुछ पढ़ते रहे, फिर अपनी टेंट से एक रुपया खोज कर उस ग्रन्थ पर चढ़ा दिया। रुपये सहित पोथी वापस करके बोले— "इसका खूब मनन करो, परम कल्याणी पुस्तक है।"

ऐसे ही एक दिन उन्होंने श्रीमती खापर्डे से कहा था— "राजाराम-राजाराम का बारम्बार उच्चारण करो। इसी को जपो। यह लक्ष्य प्राप्त करायेगा।" श्रीमती खापर्डे के पति अमरावती के नामी वकील थे। हाईकोर्ट में उनका नाथ था। संस्कृतज्ञ थे।

शिव और गंगा जी में भी साईं बाबा की श्रद्धा थी। उनका एक श्रद्धालु था मेघा। वह श्री ह.म. साठे का रसोइया था। रहने वाला था विरमगाँव का। शंकर और गंगा का बड़ा भक्त था। साईं बाबा के पास आरंभ में वह आना नहीं चाहता था, किन्तु श्री साठे की आज्ञा से विवश हो गया। पढ़ा-लिखा नहीं था। उसको पता चला था कि साईं बाबा तो मुसलमान हैं, इसलिए उनके वह पैर कैसे छू सकता है! ब्राह्मण था।

मेघा शिरडी आया। मस्जिद में आते ही बाबा का आदेश हुआ— "उसे बाहर कर दो।" बाबा क्रुद्ध थे। फिर उसकी ओर मुखातिब होकर बोले— "क्यों, ब्राह्मण होकर तुम एक मुसलमान के पास किसलिए आये ? तुम्हारी जाति नहीं चली जायेगी ?"

मन की बात प्रकट हो गयी थी। मेघा हैरान, चकित। खैर, बाबा के पास अब वह नित्य आने लगा। शिरडी में अनेक मन्दिर थे। मेघा प्रतिदिन हर एक मन्दिर के दर्शन-पूजन करता, फिर बाबा के पास मस्जिद में आता। एक बार खण्डोबा मन्दिर के पट बन्द थे, अतः वह बिना दर्शन-पूजन किये ही बाबा के पास पहुँचा। उसे रोकते हुए बाबा ने कहा— "खण्डोबा के दर्शन-पूजन करके आओ। वहाँ दरवाजे बन्द नहीं हैं।" मेघा जाकर देखता है, सचमुच मंदिर खुला है।

मेघा साईं बाबा के माथे पर चन्दन लगाता; कभी-कभी उन्हें गंगाजल से स्नान कराता। साईं बाबा कहते, "अरे मेघा, गंगाजल सिर्फ मेरे मस्तक पर ही डालना, नीचे के शरीर पर नहीं। उससे जल का अपमान होगा।" मेघा अपनी मस्ती में जब 'हर-हर गंगे' के जयनाद गुँजाता तो बाबा की शिक्षा भूल जाता और पूरे शरीर पर ही गंगाजल उँडेल देता। फिर चकित होकर देखता, बाबा का बाकी शरीर तनिक भी गीला नहीं हुआ, गीला केवल मस्तक ही हुआ है।

मेघा शिव-भक्त था। एक बार एक नवागत अतिथि मस्जिद में शिव-लिंग लाया। बाबा बड़े प्रसन्न। मेघा से कहते हैं— "अवढरदानी शिवशंकर पधारे हैं। इनकी तरफ जरा भी लापरवाही न करना।"

अभिप्राय था— मेघा को ही उन महादेव की सेवा करनी हैं। कहते हैं, इस शिव-लिंग पर एक त्रिशूल भी अंकित था। मेघा का कहना था— "साईं बाबा ने सपने में मुझसे त्रिशूल माँगा था।" साईं बाबा ने वह शिव-लिंग मस्जिद में ही स्थापित कर दिया।

उस शिव-प्रतिमा की वहाँ प्रतिदिन आरती होती थी। ऊपर मीनारों पर भगवा ध्वजाएं हवा में फहराया करतीं। ऐसी थी वह मस्जिद, भारतीयता से ओतप्रोत। मेघा १९१२ में शिरडी में ही दिवंगत हुआ। यह स्थान नीमगाँव और रहाता के बीच पड़ता है। साईं बाबा ने अपने पैसे से उसकी अंत्येष्टि की, फिर हिन्दू रीति से भोजनादि भी कराया।

सन् १९१३ की बात। दो लोग साईं बाबा के पास मस्जिद में पहुँचे। कहा— "बाबा ! हम लोग चाहते हैं, इस बार आपकी मस्जिद में भी रामनवमी मनायें ?

बाबा प्रसन्न हो गये। कहा— "इसमें भी पूछने की बात है ? रामनवमी तो आ गयी और आप लोग अभी पूछ-ताछ में ही लगे हैं ?"

दोनों ने साईं बाबा के इस उत्तर को अनुमति मान कर कृतज्ञता जतायी। इनके नाम थे लक्ष्मणराव (काका महाजनी) और कृष्णराव जोगेश्वर भीष्म। तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयीं।

रामनवमी के दिन साईं बाबा की मस्जिद में दिव्य दृश्य था। पूरी मस्जिद तोरण और

भगवा पताकाओं व लता-वन्दनवारों से सज गयी। ठीक साईं बाबा की धूनी के समीप, जहाँ वे बैठे हैं, श्रीराम के लिए छोटा-सा सुन्दर झूला (पालना) बनाया गया है। हारमोनियम और ढोलक पर थापें पड़ रही हैं। 'राम-धुन' निरन्तर चल रही है। कृष्णराव तन्मय होकर राम-कीर्तन कर रहे हैं। साईं बाबा के हर्ष का ठिकाना नहीं—अमित उत्साह और आवेश से कभी कुछ पूछते हैं, कभी कुछ। सब प्रश्न 'रामनवमी' उत्सव की तैयार के ही सम्बन्ध में हैं। सहसा साईं बाबा ने पूछा— "राम-जन्म में कितनी देर है ?" लक्ष्मणराव कहते हैं— "कुछ भी विलंब नहीं।"

साईं बाबा तत्काल उठ पड़ते हैं। नीम के पेड़ के पास जाकर दो हार उतार लाते हैं। फूलों के हार बाबा ने नीम पर टाँग रखे थे।

मस्जिद में श्रीराम का जय-नाद गूँज रहा है। पूजा-आरती प्रारंभ हो गयी है। गुलाल-कुंकुम बरस रहा है। साईं बाबा भी गुलाल से रंगे जा रहे हैं। आज के दिन जिस मस्जिद में 'उर्स' होता था, वहाँ रामनवमी का त्यौहार मनाया जा रहा है। 'उर्स' में जुलूस निकलता था। बड़ी मात्रा में चन्दन घिसा जाता था। चन्दन की धूप भी जलायी जाती थी। वास्तव में बाबा उर्स को 'चन्दन उत्सव' ही कहते थे। साईं बाबा ने आज्ञा दी— "पहले रामनवमी हो जाय, फिर 'उर्स' करेंगे।" रामनवमी मनायी जा चुकी; अतः बाबा से 'उर्स' की कार्यवाही प्रारम्भ करने की अनुमति ली गयी।

बाबा बोले— "अभी रामनवमी का उत्सव ही पूरा कहाँ हुआ ?"

लक्ष्मणराव ने कहा— "वह तो पूरा हो गया।"

बाबा ने जिद की— "अभी हरगिज पूरा नहीं हुआ। कल 'गोपाल-उत्सव' है न ? तब तक रामनवमी-पूजा चलती रहेगी। अभी श्रीराम का पालना उतारना मत।"

इन शब्दों को साईं बाबा की आज्ञा मान कर मस्जिद में रामनवमी-पर्व पूरे दिन मनाया जाता रहा। कीर्तन-भजन और भगवान् रामचन्द्र के जय-घोष गूँजते रहे। बाबा मगन थे।

दूसरे दिन भी श्रीराम का पालना उतारने की अनुमति बाबा से नहीं मिली। बोले— "गोपाल का उत्सव हो जाय, तब।"

गोपाल-उत्सव मनाया जाने लगा। इसे 'गोपाल-काला उत्सव' कहते हैं। दही लाया गया। मिट्टी के सकोरे लाये गये। उनमें दही भरा गया, फिर वे सकोरे लटका दिये गये। भगवान् श्रीकृष्ण का नाम-कीर्तन चलने लगा। कीर्तन के बाद वे सकोरे पटककर तोड़ डाले गये, तत्पश्चात् उस दही का प्रसाद बाँटा गया। इस उत्सव में वह मर्म समाहित है जिसके अनुसार श्रीकृष्ण जी सब तरुणों के साथ-साथ खेलते-खाते हुए कंस आदि दुष्टों के संहार के लिए संगठन-कार्य करते थे।

यद्यपि शाम को शिरडी में 'उर्स' का जुलूस भी निकला, किंतु उस वर्ष से 'उर्स' का उत्सव वास्तव में 'रामनवमी-उत्सव' में ही बदल गया। आज भी उस मस्जिद में हर वर्ष रामनवमी धूम-धाम से मनायी जाती है।

भारत-भक्त मुसलिम शायर— अनीस

पता नहीं किस भ्रम या भूल वश उर्दू-हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मीर बबर अली 'अनीस' के एक अन्यन्त राष्ट्रवादी छन्द को उनका लिखा न मानकर हिन्दी पाठ्यक्रम की पुस्तकों में अन्य हिन्दू नामों से दिया जाने लगा जो नितान्त गलत है। 'अनीस' का लिखा हुआ यह हिन्दी छन्द इस प्रकार है—

सुनो हो विटप! हम पुहुप तिहारे अहैं,
राखिहौ हमें तो शोभा रावरी बढ़ावेंगे।
तजिहौ, हरषि कै तो विलग न मानैं कछू,
जहाँ-जहाँ जइहैं, तहाँ दूनो जश गावैंगे॥
सुरन चढ़ेंगे, नर-सिरन चढ़ेंगे, फेरि
सुकवि 'अनीस' हाथ-हाथन बिकावेंगे।
देस में रहेंगे, परदेस में रहेंगे,
काहू भेस में रहेंगे, तऊ रावरे कहावेंगे॥

'अनीस' का यह हिन्दी छन्द राष्ट्रीय भावना और राष्ट्र-प्रेम से परिपूर्ण है। 'अनीस' मानो देश-प्रेम की उद्दाम प्रेरणा से भरकर अपने देश को पुकार कर कहना चाहते हैं कि "हे मेरे प्रिय भारत! हम तो तुम्हारी ही गोद में— तुम्हारी शाखाओं में—खिले तुम्हारे फूल हैं। यदि आप हमें रखेंगे तो हम आपकी शोभा बढ़ायेंगे। यदि न रखेंगे, त्याग देंगे तो भी हम प्रसन्न रहेंगे और मन से कभी अपने को आपसे विलग न मानेंगे। जहाँ-जहाँ भी जायेंगे, वहाँ-वहाँ आपका ही द्विगुणित सुयश गान करेंगे।

"हम (फूल) चाहे देवताओं के सिर पर चढ़ाये जायें, चाहे मनुष्यों के मस्तक पर चढ़ाये जायें, या फिर चाहे हमें हाथों-हाथ बिकना पड़े, देश में रहें या विदेश में वास हो, किसी भी वेश में रहें, तो भी हम कहलायेंगे आपके ही। अर्थात् हम भारतवासी, भारतीय ही कहलायेंगे।"

कैसी राष्ट्रवादी पंक्तियाँ हैं ये शायर 'अनीस' की। वे यहाँ तक कह गये कि 'यदि किसी कारण भारत हमें त्याग भी दे तो भी हम हृदय से कभी उससे जुदा नहीं होंगे, वरन् प्रसन्नतापूर्वक अपने को भारत से अभिन्न ही मानते रहेंगे। कहीं भी किसी भी वेश में हमें रहना पड़े तो भी सदैव हमारे मुँह से भारत का ही गुणगान होगा।' क्या ये भावनाएं 'अनीस' को रहीम-रसखान और अश्फाक उल्ला खाँ-हसरत वारसी की ही श्रेणी में नहीं शामिल करतीं ?

'अनीस' लखनऊ निवासी थे। उनकी जन्म-तिथि सन् १८०१ की है और १८७३ में वे गुजर गये। 'अनीस' उर्दू के जाने-माने शायरों में गिने जाते हैं परन्तु वे हिन्दी में अच्छी कविता, श्रेष्ठ राष्ट्रवादी कविता कर सकते थे तथा की है, इसका परिचय और प्रमाण हमें उनके द्वारा रचित उक्त छन्द से प्राप्त होता है।

काजी नजरुल इस्लाम बनाम हुबली के कठमुल्ले

बंगाल के क्रांतिकारी कवि काजी नजरुल इस्लाम आजीवन मुसलमान ही रहे और देश में क्रांति की ज्वाला प्रचण्ड करने के लिए विप्लवी कविताओं की 'अग्नि-वीणा' निनादित करते रहे। 'अग्नि-वीणा' उनकी बंगला कविताओं का प्रसिद्ध संकलन है। यह काव्य-संकलन विद्रोह को वाणी देता है, क्रांति का आह्वान करता है। यहाँ तक कि खुदा का जो ऊपर आसन है, सिंहासन, 'अर्श', कवि उसको भी भेदकर विश्व-विधात्री के चिर विस्मय की भाँति ऊर्ध्वगामी होना चाहता है, खुदा के तख्त को छेदकर उसके भी ऊपर उठने का आग्रही है, क्योंकि वह ध्वंसकामी ब्रिटिश दासता के तख्त को लात मारकर चूर-चूर कर देना चाहता है। अंग्रेजों ने इसे जब्त कर लिया था।

सो, एक तो ये काजी नजरुल इस्लाम थे, विप्लवी 'अग्नि-वीणा' के गायक, जिन्हें खुदा तक देश से बढ़कर महान् नहीं लगा और एक आज के ये कठमुल्ले हैं जिन्हें हुबली (कर्नाटक) में सार्वजनिक स्थान (पार्क) में राष्ट्रीय ध्वज फहराये जाने पर आपत्ति है, फहराये जाने के प्रश्न पर रक्तपात तक करने की धमकी देते हैं। कैसा नमूना है जिहादी वृत्ति का! उधर काजी नजरुल इस्लाम थे, जिन्हें बंगाल का विभाजन कभी सहन न हुआ। उस घोर दमनकाल में उन्होंने 'विद्रोही' शीर्षक से उच्च स्वर से गाया यह विप्लव-गान कि :

बल, वीर—
बल, उन्नत मम शिर!
शिर नेहारि आमारि, नतशिर आई शिखर हिमाद्रिर।
बल, वीर—
बल, महाविश्वेर महाकाश फाड़ि
चन्द्र-सूर्य-ग्रह-तारा छाड़ि
भूलोक-द्युलोक-गोलोक छेदिया
खोदार आरसन 'आरश' भेदिया
उठियाछि चिर विस्मय आमि विश्वविधात्रीर
मम ललाट रुद्र भगवान् ज्वले राज-राज टीका दीप्त जयश्रीर!
बल, वीर—
आमि चिर उन्नत शिर!
आमि चिर दुर्दम दुर्विनीत-नृशंस,
महाप्रलयेर आमि नटराज, आमि 'साइक्लोन', आमि ध्वंस,
आमि महाभय, आमि अभिशाप पृथिविर!
आमि दुर्वार

आमि भेङे करि सब चूर मार!
आमि अनियम उच्छृंखल
आमि दले जाइ यत बंधन, यत नियम कानून श्रृंखल
आमि मानि नाको कोनो 'आईन'
आमि भरा-तरी करि भरा-डूबि
आमि 'तारपीडो', आमि भीम भासभान 'माइन'
आमि धूर्जटि, आनि एलोकेशेझड़, अकाल-वैशाखीर!
आमि विद्रोही, आमि विद्रोही सुत विश्व विद्याभीर!

इस विप्लवी अग्नि-गीत में विप्लवी का स्वरूप, शब्दरूप चित्रित हुआ है। काजी नजरुल इस्लाम कहते हैं— 'हे वीर-कर्मा! बोल कि हमारा शिर (शीश) उन्नत है, ऊँचा है मस्तक हमारा, और हिमाद्रि (हिमालय) का शिखर जब हमारे ये उन्नत शिर देखता है तो वह नतशिर हो जाता है, अपना सिर झुका लेता है। हे विप्लवी वीर! बोल कि हम लोग (क्रान्तिकारी) महाविश्व के महाकाश को विदीर्ण कर, चन्द्र सूर्य-तारों को मुट्ठी में भरकर, इतस्तत: बिखराकर, भूलोक, द्यु-लोक-गोलोक का भेदन करके उन्हें पार करते हुए, खुदा का जो 'अर्श' है, आलीशान तख्त (सिंहासन), उसको भी छेदते-भेदते हुए हम उससे भी और ऊर्ध्व की ओर उठ रहे हैं— विश्व विधात्री के चिर विस्मय की भाँति। हमारे ललाट पर रुद्र भगवान् राज-तिलक की भाँति उद्दीप्त हैं, जाज्वल्यमान। बोलो वीर! कि हम चिर दुर्दमनीय, दुर्विनीत तथा मोह-ममता-रहित हैं। हम दुष्टों का निर्ममता से संहार करते हैं, भले ही हमें कोई 'नृशंस' कहे। हम महाप्रलय में ताण्डव नृत्यकर्ता प्रलयंकर नटराज हैं, 'साइक्लोन' हैं, 'ध्वंस' हमारा ही नाम है, 'महाभय' भी हमारा नाम है। हम पृथ्वी पर अभिशाप की भाँति घहरा पड़ते हैं। हमारा पथ कोई रुद्ध नहीं कर सकता, हम बीच में ठहर नहीं सकते। हम भग्न कर सभी कुछ चूर-चूर कर डालते हैं। 'अनियम' हमारा ही नाम है, भले इस कारण हमें 'उच्छृंखल' कहा जाये, हम जितने भी संसार के बनाये आईन-कानून और प्रतिबंध हैं (उपासना-पंथ के भी) उन्हें नहीं मानते। उनको तोड़ने वाले हम हैं। हम वे हैं जो भरी नौका को महागर्त में डुबा देते हैं, 'तारपीडो' हैं हम और भीम भयंकर विस्फोटक बारूदी सुरंग भी हम ही हैं। हम धूर्जटि शिव हैं, जो अपने मुक्त कुन्तलों (जटाओं) से अकाल का बैशाखी प्रभञ्जन दूर बहा देते हैं क्योंकि हम विद्रोही हैं, विश्व-जननी की विप्लवी संतानें हैं हम।'

देखिए, कहाँ काजी नजरुल इस्लाम का यह उद्घोष और कहाँ आज हुबली जैसे नगरों के ये कठमुल्ले जिन्हें राष्ट्रीय ध्वज फहराने से परहेज है, नफरत है, विरोध है और उसके लिए तलवारें चमका रहे हैं। काजी नजरुल इस्लाम ने अपने पुत्र का नाम 'सव्यसाची' रखा। पाकिस्तान ने उनकी पेन्शन बंद कर दी थी।

जिसे हिन्दुओं ने दफनाया

वे थे तो मुसलमान ही, नाम था— कासिम अप्पा बागवान। किंतु मुसलिम मतानुयायी होने के बावजूद वे महाराष्ट्र के पंढरीनाथ विठोबा (विट्ठल) के भक्त थे और महाराष्ट्र के वैष्णवों में जो एक संप्रदाय बहुत प्रसिद्ध है, 'वारकरी संप्रदाय', उस के अनुसार प्रति वर्ष पंढरपुर की परिक्रमा में जाकर विट्ठल भगवान् के दर्शन तथा भाव-विभोर होकर भजन भी करते थे। उन्हें भजन करते देखकर, उनकी वाणी से जिस प्रकार श्री राम और श्री कृष्ण के नाम-कीर्तन की लय फूटती थी और उसमें कासिम जिस प्रकार तन्मय हो जाया करते थे, उसे देखकर शायद ही कोई यह कल्पना कर सकता हो कि वे हिन्दू न होकर मुसलमान हैं। यह भी सत्य है कि किसी भी साधु-महात्मा ने कभी उनसे यह आग्रह नहीं किया कि 'जब तुम पंढरीनाथ की इतनी भक्ति करते हो तो क्यों न विधिपूर्वक हिन्दू धर्म ही ग्रहण कर लो कासिम मियाँ!' किसी ने नहीं कहा। और कासिम उसी प्रकार बिलानागा प्रतिवर्ष पंढरपुर जाकर विठोबा के दर्शनों के लिए भक्तों में शामिल होते रहे, गाते रहे विट्ठल के गुणानुवाद।

यह देखकर काजियों-मुल्लाओं को उन पर बड़ा क्रोध आया कि मुसलमान भी कहता है अपने को और कुफ्र भी बोलता रहता है; यह क्या इस्लाम की तौहीन नहीं ?

वे रह रहे थे मीरज नगर में। किसी प्रकार गुजर-बसर करते थे। छल-प्रपञ्च, झूठ की कमाई से उन्हें परहेज था। गरीबी में ही जीवन-यापन कर रहे थे, फिर भी सन्तुष्ट थे कि उन्हें विठोबा के दर्शन हो जाया करते हैं, पंढरीपुर का मार्ग खुला है उनके लिए। कासिम ने अपनी यह हिन्दू धर्म-निष्ठा पूरे जीवन निभायी; अपने नाते-रिश्तेदारों और मुसलमान मौलानाओं द्वारा किया जाता रहा अपमान-तिरस्कार भी झेलते रहे। वे कहते थे— "वह विट्ठल-भक्त कैसा, जिसे यह संसार कष्ट न दे ?" वे वैष्णव और मुसलमान, दोनों ही थे। जीविका के रूप में उन्होंने एक होटल खोल रखा था जो कोई आलीशान या बड़ा होटल न था। रोटी-कपड़ा ही उससे किसी प्रकार जुट पाता था। उदार, सज्जन मुसलमान कासिम की सचाई के कायल थे; कट्टरपंथी उन्हें 'काफिर' कहते थे। कहें, कासिम ने कभी उनकी परवाह न की, न अपना भक्ति-पथ छोड़ा। यह कहानी या कि वास्तविकता स्वतंत्र भारत की ही है, कोई पुरानी बात नहीं ।

और फिर एक दिन, जैसा कि इस नश्वर जगत् का नियम है, मृत्यु का बुलावा कासिम के लिए भी आ गया। उठ गये वे दुनिया से। लोगों ने सोचा, जैसी कि मुसलमानों में प्रथा है, किसी मुसलमान की मैय्यत (मृत्यु) पर वे बड़े जोश-खरोश और काफी संख्या में जनाजे में शामिल होने आते हैं, कासिम की मैय्यत को भी वे मिट्टी देंगे। पर आश्चर्य! लाश यों ही पड़ी रही, मोहताज रही दफन के लिए। न कोई उनका रिश्तेदार आया, न काज़ी, न

मुल्ला। इतना कट्टरपन इस्लाम के नाम पर! फिर कुछ हिन्दू निकले, जो उनसे प्रेम करते थे। सोचा, शव को सड़ने न देंगे। न आयें मुसलमान, हम कासिम मियाँ को दफन करेंगे, जनाज़े में कन्धा देंगे, मिट्टी देंगे। और वे ले चले कासिम का जनाजा। उन्हें कफन की कमी न रही।

अब देखिए, जब वह जनाजा मुसलमानों की कब्रगाह पर पहुँचा तो मुसलमान दौड़े आये विरोध और झगड़ा करने कि 'हम इस लाश को अपने कब्रिस्तान में दफनाने न देंगे, क्योंकि कासिम की तर्जे जिन्दगी इस्लाम से मेल नहीं खाती थी, यहाँ दफनाने से इस्लाम की बेइज्जती होगी।'

तब एक हिन्दू ने कहा— ''ठीक है, हम इन्हें अपने खेत में मिट्टी देंगे। वहीं दफन करेंगे।''

अब इस पर भी मुसलमानों में खलबली मची। कहा— 'हमें यह भी मंजूर न होगा।' इस पर झगड़ा बढ़ा। आखिर देर बाद किसी प्रकार यह समझौता कुछ समझदार मुसलमानों से करा पाये कि मुसलिमों के कब्रिस्तान में ही कासिम की लाश को दफन करने दिया जाय। फिर भी उसे दफनाया हिन्दुओं ने ही, कोई मुसलमान वहाँ मिट्टी देने नहीं आया।

बुद्धि-विवेक इस वैज्ञानिक युग में जागरूक लोगों से यह प्रश्न आज भी कर रहा है कि कासिम का सिवाय इसके कि वह सत्पुरुष इस देश में पैदा हुआ और यहाँ की संस्कृति-सभ्यता में ही उसने गौरव माना, और क्या अपराध था ?

धर्म-धात्री बीबी अमतुस्सलाम

सन् १९४६ में जिन्ना की मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान बनाने के लिए 'सीधी कार्रवाई' के नाम पर बर्बरतापूर्ण साम्प्रदायिक दंगे किये जा रहे थे। सुहरावर्दी के शैतानी दस्तों ने पहले कलकत्ता और फिर पूर्वी बंगाल को नरक बना रखा था। ऐसे में महात्मा गांधी शान्ति-स्वयंसेवकों का जत्था लेकर नोआखाली पहुँचे जिन्होंने वहाँ टोलियों में बँटकर सेवा-सहायता प्रारम्भ की। उनमें गांधी जी के आश्रम में रहने वाली एक मुस्लिम लड़की भी थी, नाम था उसका— बीबी अमतुस्सलाम। वह नोआखाली के दसघरिया गाँव में गांधी जी से पहले पहुँचकर दंगापीड़ित हिन्दुओं की सेवा में लग चुकी थी।

दसघरिया गाँव की जो स्त्रियाँ दंगों के समय आततायियों द्वारा बलात् मुसलमान बना ली गयी थीं, बीबी अमतुस्सलाम के प्रयासों से वे पुन: अपने मूल धर्म में लौट आयीं। जब गांधी जी दसघरिया पहुँचे तो उन स्त्रियों ने सामूहिक रूप से रामधुन गाकर उनका स्वागत किया। अत: आज यदि कहीं रामधुन सुनाई पड़ती है तो यह कोई नयी परिपाटी नहीं प्रारम्भ की जा रही है। राम-नाम और श्री राम का गुण-कीर्तन तो इस देश के कण-कण में गूँजता आ रहा है। अस्तु। परावर्तन का ऐसा ही क्रम गाँव-गाँव में चला और नोआखाली जिले में दंगों के समय मुसलमान बनने के लिए बाध्य किया गया शायद ही कोई हिन्दू रहा होगा जो बाद में फिर से अपने धर्म में वापस न आ गया हो। यहाँ तक कि जिला मजिस्ट्रेट मैकिनर्नी ने भी एक विज्ञप्ति प्रसारित कर दी कि 'हाल के दंगे प्रारम्भ होने के बाद जिस किसी ने भी इस्लाम स्वीकार किया है उसको जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया है और वह वास्तव में हिन्दू ही है।'

एक गाँव में हिन्दुओं की हत्या करके दंगाई उनके तीन खड्ग लूट ले गये थे। बीबी अमतुस्सलाम ने उन खड्गों को लौटाने की माँग करते हुए अनशन भी किया। तीन सप्ताह बाद बाध्य होकर मुसलमानों ने वे खड्ग वापस कर दिये।

अमतुस्सलाम इस्लाम को मानती थी, परन्तु प्रतिदिन नियमित रूप से गीता का भी पाठ करती थी।

बापू जी! गुस्ताखी माफ

नवम्बर १९४७ में गुजरात की एक मुसलमान कवयित्री रेहाना तैय्यबजी ने महात्मा गांधी को एक पत्र लिखा था जिसमें मुस्लिम सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए भारत की एकता के सूत्र प्रस्तुत किये गये थे और भविस्य के लिए सम्भावित संकट की चेतावती भी दी गयी थी। गांधी जी ने 'हरिजन-सेवक' के ९ नवम्बर १९४७ के अंक में इसका उत्तर भी छपवाया था।

रेहाना लिखतीं हैं— "बापू! मुसलमानों को अगर आप वफादार (देशभक्त) हिन्दुस्थानी बनाना चाहते हैं तो उनमें और बाकी के (शेष) हिन्दुस्थानियों में अब कोई फर्क (अन्तर) नहीं करना चाहिए। अगर वे हिन्दुस्थान में रहना चाहते हैं तो और हिन्दुस्थानियों की तरह रहें, हिन्दुस्तानी सीखें, नागरी सीखें..........।

"बापू! मुसलमानों पर यह अन्याय है कि उन्हें अपना दुराग्रह छोड़ने का आप कोई मौका (अवसर) नहीं देते। उनकी बेजा (अनुचित) माँग पूरी करके आप उनमें और अन्य अल्पसंख्यकों में एक कृत्रिम फर्क पैदा कर देते हैं। इससे गैर-मुसलमानों को अपनी अलग-अलग जमात बनाकर बैठ जाने का मौका मिलता है। इस चीज का सबूत (प्रमाण) मेरा अपना खानदान देता है।....

"बापू जी! गुस्ताखी माफ। आप लोग मुसलमानों से इतने अलग रहे हैं कि आपको उनके मानस की बिल्कुल ख़बर नहीं। यही वजह (कारण) है कि पाकिस्तान हो गया और मुझे यकीन (विश्वास) है कि अगर आपने नागरी के साथ उर्दू को भी राष्ट्रलिपि बना लिया तो आप हिन्दुस्थान के भीतर एक दूसरा पाकिस्तान खड़ा कर देंगे।.....

"अब एक मुस्लिम हिन्दुस्थानी की हैसियत से मेरी विनती है, खुदा के लिए आप मुसलमानों को अपने ही मुल्क (देश) में परदेशियों की तरह रहने का प्रोत्साहन न दीजिए। वे तो यही चाहते हैं कि आप ब्रिटेन और पाकिस्तान का खेल खेलते रहें और मुसलमान हर जगह बाजियाँ जीतते रहें। बापू! मैं बहुत घबराई हुई हूँ, क्योंकि मैं मुसलमान समाज से वाकिफ (परिचित) हूँ। उनकी महत्त्वाकांक्षा मैं जानती हूँ, भले ही आप जानने या मानने से इन्कार करें। खुदा के लिए मेरी बात पर ध्यान दीजिए।...

"बापू! हाथ जोड़कर अर्ज (निवेदन) है, सज्जनता के साथ क्या सत्य दर्शन नहीं रह सकता ?"

—(ह.) रेहाना तैय्यबजी

काश! ऐसी भावनाएं अधिसंख्य मुस्लिमों की होतीं और कांग्रेस के शिखरस्थ नेता इस प्रकार के अनुरोधों को अपनी नीति में समाविष्ट कर पाते तो शायद देश-विभाजन की नौबत ही न आती। परन्तु खेद है कि कांग्रेस तथा देश के स्वदेशी शासक विभाजन के बाद भी वही साम्प्रदायिक तुष्टीकरण की नीति चलाते रहे। सत्ता की राजनीति से प्रेरित होकर उन्होंने वह आत्मघाती पथ त्यागा नहीं।

हमीद दलवाई का स्वदेशाभिमान

स्वदेशाभिमान के एक दृष्टान्त, स्व. हमीद दलवाई का नाम हिन्दी-मराठी के पाठकों में सर्वविदित है। वे महाराष्ट्र के 'मराठा' समाचार-पत्र में काम करते हुए प्रसन्नता अनुभव करते थे। महाभारत से उनका बड़ा लगाव था। उस पत्र में उनके लेख चर्चित हुए थे। उनके 'ईंधन' उपन्यास को भी सराहना मिली।

हमीद दलवाई राष्ट्र-भक्त मुसलमान थे। उन्हें सदैव अपने देश, उसकी संस्कृति, इतिहास, परम्परा, भाषा और धर्म-दर्शन पर अभिमान रहा। जब पाकिस्तान बन रहा था और भारत के ही अनेक मुसलमान उसके लिए तूफान मचाये हुए थे, जुलूसों में नारा लगाते थे— 'लेके रहेंगे पाकिस्तान', उन दिनों हमीद स्कूल में पढ़ रहे थे। उसी स्कूल में कई ऐसे मुसलिम लड़के भी थे जो कुख्यात 'मुस्लिम नेशनल गार्ड' नामक पाकिस्तान-परस्त संस्था में शामिल थे। उन लड़कों ने स्कूल में 'ईद-मिलाद' के अवसर पर एक 'जलसा' (समारोह) आयोजित किया। समारोह में तमाशा देखने के लिए हमीद भी गये।

उस जलसे में मुस्लिम लड़कों ने, जो कि 'मुस्लिम नेशनल गार्ड' संगठन के सदस्य थे, पाकिस्तान बनाने के समर्थन में नारा लगाया— 'पाकिस्तान जिन्दाबाद'। उसके उत्तर में हमीद दलवाई और उनके एक साथी मुसलमान लड़के 'देशा' ने नारे लगाये— "इन्कलाब जिन्दाबाद। भारत माता की जय"।

इस पर मुसलमान लड़कों ने क्रुद्ध होकर देशा को पकड़ लिया और उसे बहुत मारा-पीटा। आहत (जख्मी) हो गया देशा। हमीद किसी प्रकार वहाँ से निकल सके।

उस जलसे में हमीद के पिता भी विद्यमान थे जोकि उन दिनों चिपलूण तालुका-मुस्लिम लीग के नेताओं में से थे, अर्थात् हमीद के अब्बाजान भी पाकिस्तान-परस्त थे। किंतु, हमीद 'राष्ट्र-सेवा-दल' में भर्ती होकर राष्ट्र-भक्ति का पाठ पढ़ रहे थे और 'लोकमान्य तिलक पुस्तकालय' के इतिहास-ग्रन्थों में भारतीय गौरव के अध्याय पढ़कर अभिमान अनुभव करते थे जबकि अन्य मुस्लिम छात्र 'मुस्लिम नेशनल गार्ड' में कवायद-परेड किया करते थे और बाट देखते थे कि कब पाकिस्तान बने। हमीद इस घटना के बाद ८ दिन तक घर नहीं आये। आते तो उनके पिता उन्हें पीटते।

हमीद दलवाई के उल्लेखनीय कार्यों में से एक रहा है— 'मुस्लिम सत्यशोधक मण्डल' की स्थापना, जो मुस्लिम समुदाय को अराष्ट्रीय कठमुल्लेपन के चंगुल से बाहर निकालकर राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित करने को प्रतिबद्ध रहा है। इन गतिविधियों के चलते कठमुल्लों ने हमीद दलवाई पर घातक आक्रमण किये और उन्हें गंभीर शारीरिक क्षति पहुँचायी, किन्तु उनके मनोबल को कोई तोड़ न सका।

लेखक-परिचय

श्री वचनेश त्रिपाठी

जन्म : २४ जनवरी १९१४; स्थान — सण्डीला, जिला हरदोई, उत्तर प्रदेश।

शिक्षा : स्कूली शिक्षा — इण्टरमीडिएट, उर्दू में 'आला काब्लियत' परीक्षा उत्तीर्ण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'साहित्य रत्न'। (सम्मेलन की 'विशारद' परीक्षा के ६ वर्ष परीक्षक रहे।)

क्रान्तिकार्य : १६ वर्ष की आयु से क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़े। मैनपुरी केस के फरार क्रान्तिकारी पं० देवनारायण भारतीय के अनुगत। पुलिस चौकी लूटने-जलाने के मुकदमें में पहले डेढ़ वर्ष और दुबारा दस मास का कारावांस।

लेखन : १५ वर्ष की आयु से लेखन में रुचि।
पुस्तकें — विद्रोही की कन्या, शहीद, मुक्तप्राण, अग्निपथ के राही, वे आजाद थे, सुकरात का प्याला, गोदावरी की खोज, हमारा सूरज, सूरज के बेटे, हम विद्रोही चिर अशान्त, वासुदेव बलवन्त फड़के, शहीद मदनलाल धींगरा, साहसी बलिदानी (दो भाग)।

पत्रकारिता : १९४८ से पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत। अनेक पत्र-पत्रिकाओं से सम्बद्धता। दैनिक 'तरुण भारत' (लखनऊ), साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' एवं मासिक 'राष्ट्रधर्म' के अनेक वर्ष तक सम्पादक रहे।

सम्मान : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से 'साहित्य भूषण' सम्मान प्राप्त। प्रख्यात विद्वानों और साहित्यकारों द्वारा समारोहपूर्वक 'साहित्येन्दु' उपाधि से सम्मानित।